# जैनधर्म की कहानियाँ

## भाग ८

### श्रावक की धर्मसाधना

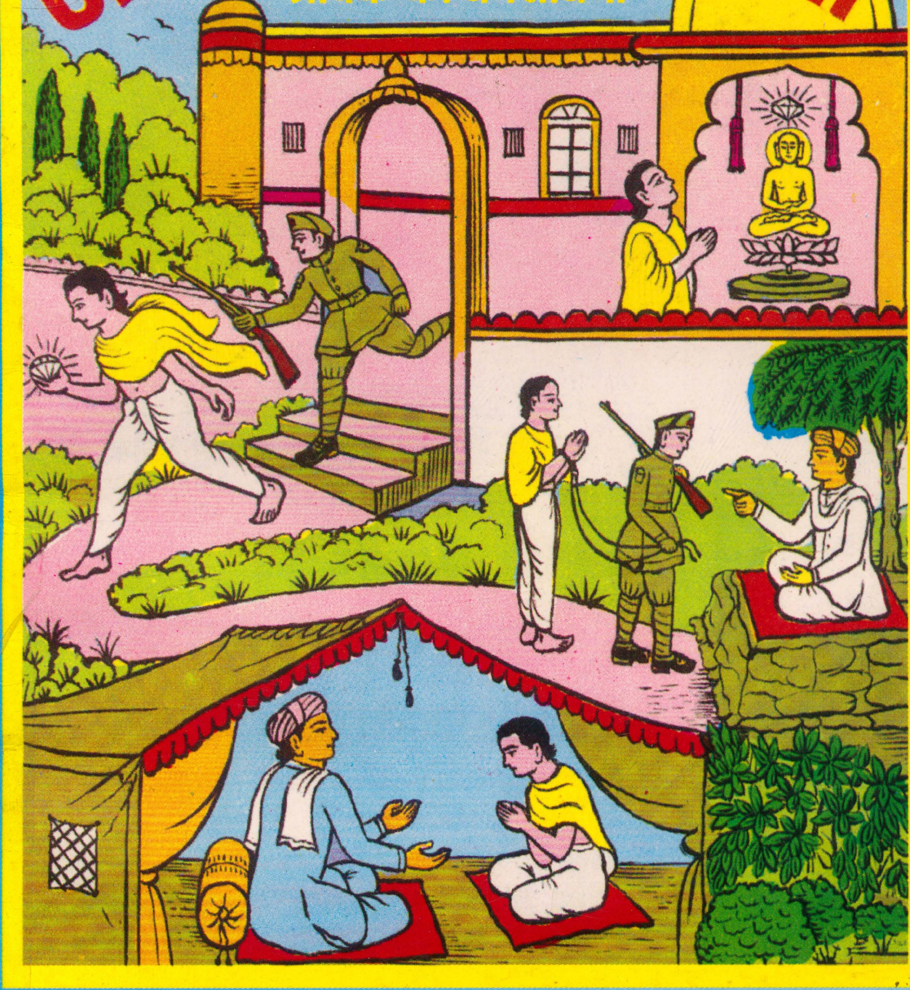

प्रकाशक :

अखिल भा. जैन युवा फैडरेशन–खैरागढ़

श्री कहान स्मृति प्रकाशन–सोनगढ़

## श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला संक्षिप्त परिचय

**श्री खेमराज गिड़िया**

**श्रीमती धुड़ीबाई गिड़िया**

जिनके विशेष आशीर्वाद व सहयोग से ग्रन्थमाला की स्थापना हुई तथा जिसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष धार्मिक साहित्य प्रकाशित करने का कार्यक्रम सुचारु रूप से चल रहा है, उस ग्रन्थमाला के संस्थापक श्री खेमराज गिड़िया का संक्षिप्त परिचय देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं –

**जन्म** : सन् १९१९ चांदरख (जोधपुर)

**पिता** : श्री हंसराज, **माता** : श्रीमती मेहंदीबाई

**शिक्षा/व्यवसाय** : मात्र प्रायमरी शिक्षा प्राप्त कर मात्र १२ वर्ष की उम्र से ही व्यवसाय में लग गए।

**सत्-समागम** : सन् १९५० में पूज्य श्री कानजी स्वामी का परिचय सोनगढ़ में हुआ।

**ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा** : मात्र ३४ वर्ष की उम्र में सन् १९५३ में पूज्य स्वामीजी से सोनगढ़ में ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा ली।

**परिवार** : आपके ४ पुत्र एवं २ पुत्रियां हैं। पुत्र- दुलीचन्द, पन्नालाल, मोतीलाल एवं प्रेमचंद। तथा पुत्रियॉ- ब्र. ताराबेन एवं मैनाबेन। दोनों पुत्रियों ने मात्र १८ वर्ष एवं २० वर्ष की उम्र में ही आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेकर सोनगढ़ को ही अपना स्थायी निवास बना लिया।

**विशेष** : भावनगर पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में भगवान के माता-पिता बने। सन् १९५९ में खैरागढ़ जिनमंदिर निर्माण कराया एवं पूज्य गुरुदेवश्री के शुभ हस्ते प्रतिष्ठा में विशेष सहयोग दिया। सन् १९८८ में २५ दिवसीय ७० यात्रियों सहित दक्षिण तीर्थयात्रा संघ निकाला एवं अनेक सामाजिक कार्यों के अलावा अब व्यवसाय से निवृत्त होकर अधिकांश समय सोनगढ़ में रहकर आत्म-साधना में बिताते हैं।

श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला का १३वाँ पुष्प

# जैनधर्म की कहानियाँ

( भाग ८ )

## श्रावक की धर्म साधना

संकलन कर्त्ता :

**ब्र० हरिभाई, सोनगढ़**

सम्पादक :

**श्री वसन्तराव सावरकर, नागपुर**

सम्पादक :

**पण्डित राकेश जैन शास्त्री, नागपुर**

प्रकाशक :

**अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन**

महावीर चौक, खैरागढ़ - ४९१८८१ (मध्यप्रदेश)

और

**श्री कहान स्मृति प्रकाशन**

सन्त सान्निध्य, सोनगढ़ - ३६४२५०(सौराष्ट्र)

प्रथम तीन संस्करण - 15000 प्रतियाँ
चतुर्थ संस्करण - 3200 ~~प्रतियाँ (1 जनवरी, 2005)~~

कुल - 18200 प्रतियाँ

*न्योछावर* - छह रुपये मात्र

न रूपये मात्र

© सर्वाधिकार सुरक्षित

*प्राप्ति स्थान* -

- **अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन**
  **शाखा- खैरागढ़**
  श्री खेमराज प्रेमचंद जैन,
  'कहान-निकेतन'
  खैरागढ़, जि. राजनाँदगाँव (म.प्र.)

- **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट**
  ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

- **ब्र. ताराबेन मैनाबेन जैन**
  'कहान रश्मि', सोनगढ़-३६४२५०,
  जि. भावनगर (सौराष्ट्र)

*टाईप सेटिंग एवं मुद्रण व्यवस्था* –
*जैन कम्प्यूटर्स,*
श्री टोडरमल स्मारक भवन, मंगलधाम,
ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015
फोन : 0141-2700751
फैक्स : 0141-2709865

## अनुक्रमणिका

| | |
|---|---|
| श्रावक की धर्म साधना | ११ |
| निःशांकित अंग में प्रसिद्ध अंजन चोर की कहानी | १२ |
| निःकांक्षित अंग में प्रसिद्ध अनन्तमती की कहानी | १८ |
| निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध उद्दायनराजा की कहानी | २६ |
| अमूढ़दृष्टि अंग में प्रसिद्ध रेवती रानी की कहानी | २६ |
| उपगूहन अंग में प्रसिद्ध जिनभक्त सेठ की कहानी | ३५ |
| स्थितिकरण अंग में प्रसिद्ध मुनि वारिषेण की कहानी | ३६ |
| वात्सल्य अंग में प्रसिद्ध मुनि विष्णुकुमार की कहानी | ४५ |
| प्रभावना अंग में प्रसिद्ध मुनिश्री वज्रकुमार की कहानी | ५३ |
| सम्यक्त्व की महिमा | ५६ |
| श्रावक की धर्म साधना | ६४ |
| अहिंसा व्रत | ६६ |
| यमपाल चण्डाल की कहानी | ६७ |
| सत्य व्रत | ७३ |
| वसुराजा की कहानी | ७४ |
| अचौर्य व्रत | ८२ |
| श्रीभूति पुरोहित की कहानी | ८३ |
| ब्रह्मचर्य व्रत | ८७ |
| नीली सुन्दरी की कहानी | ८८ |
| सेठ सुदर्शन की कहानी | ८६ |
| परिग्रह-परिमाण व्रत | ६३ |
| राजा जयकुमार की कहानी | ६५ |
| लोभी लुब्धदत्त की कहानी | ६६ |

# प्रकाशकीय

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी द्वारा प्रभावित आध्यात्मिक क्रान्ति को जन-जन तक पहुँचाने में पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर के डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल का योगदान अविस्मरणीय है, उन्हीं के मार्गदर्शन में अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन की स्थापना की गई है। फैडरेशन की खैरागढ़ शाखा का गठन २६ दिसम्बर, १९८० को पण्डित ज्ञानचन्दजी, विदिशा के शुभ हस्ते किया गया। तब से आज तक फैडरेशन के सभी उद्देश्यों की पूर्ति इस शाखा के माध्यम से अनवरत हो रही है।

इसके अन्तर्गत सामूहिक स्वाध्याय, पूजन, भक्ति आदि दैनिक कार्यक्रमों के साथ-साथ साहित्य प्रकाशन, साहित्य विक्रय, श्री वीतराग विद्यालय, ग्रन्थालय, कैसेट लायब्रेरी, साप्ताहिक गोष्ठी आदि गतिविधियाँ उल्लेखनीय हैं; साहित्य प्रकाशन के कार्य को गति एवं निरंतरता प्रदान करने के उद्देश्य से सन् १९८८ में श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया ग्रन्थमाला की स्थापना की गई।

इस ग्रन्थमाला के परम शिरोमणि संरक्षक सदस्य २१००१/- में, संरक्षक शिरोमणि सदस्य ११००१/- में तथा परमसंरक्षक सदस्य ५००१/- में भी बनाये जाते हैं, जिनके नाम प्रत्येक प्रकाशन में दिये जाते हैं।

पूज्य गुरुदेव के अत्यन्त निकटस्थ अन्तेवासी एवं जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन उनकी वाणी को आत्मसात करने एवं लिपिबद्ध करने में लगा दिया – ऐसे ब्र. हरिभाई का हृदय जब पूज्य गुरुदेवश्री का चिर-वियोग (वीर सं. २५०६ में) स्वीकार नहीं कर पा रहा था, ऐसे समय में उन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री की मृत देह के समीप बैठे-बैठे संकल्प लिया कि जीवन की सम्पूर्ण शक्ति एवं सम्पत्ति का उपयोग गुरुदेवश्री के स्मरणार्थ ही खर्च करूँगा।

तब श्री कहान स्मृति प्रकाशन का जन्म हुआ और एक के बाद एक गुजराती भाषा में सत्साहित्य का प्रकाशन होने लगा, लेकिन अब हिन्दी, गुजराती दोनों भाषा के प्रकाशनों में श्री कहान स्मृति प्रकाशन का सहयोग प्राप्त हो रहा है, जिसके परिणाम स्वरूप नये-नये प्रकाशन आपके सामने हैं।

साहित्य प्रकाशन के अन्तर्गत् जैनधर्म की कहानियाँ भाग १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२,१३,१४,१५,१६ एवं अनुपम संकलन (लघु जिनवाणी संग्रह), चौबीस तीर्थंकर महापुराण (हिन्दी-गुजराती), पाहुड़दोहा-भव्यामृत शतक, आत्मसाधना सूत्र, विराग सरिता तथा लघुतत्त्वस्फोट तथा अपराध क्षणभर का (कॉमिक्स) – इसप्रकार चौबीस पुष्प प्रकाशित किये जा चुके हैं।

जैनधर्म की कहानियाँ भाग-८ का यह तृतीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें भारी प्रसन्नता है। इसमें श्रावक की धर्मसाधना के रूप में श्री सकलकीर्ति श्रावकाचार पर आधारित सम्यग्दर्शन के आठ अंगों एवं अहिंसा आदि पाँच व्रतों के सम्बन्ध में कहानियों के माध्यम से भव्यजीवों को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी गई है।

इन कहानियों का लेखन सकलकीर्ति श्रावकाचार के आधार पर गुजराती ब्र. हरिभाई सोनगढ़ द्वारा, उसका हिन्दी अनुवाद श्री वसंतराव सावरकर नागपुर द्वारा, सम्पादन पण्डित राकेश शास्त्री नागपुर द्वारा एवं वर्तनी की शुद्धिपूर्वक मुद्रण पण्डित रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर द्वारा किया गया है। अत: हम सभी के आभारी हैं।

आशा है पाठकगण इनसे अपने जीवन में पवित्रता एवं सुदृढ़ता प्राप्त कर सन्मार्ग पर चलकर अपना जीवन सफल करेंगे।

जैन बाल साहित्य अधिक से अधिक संख्या में प्रकाशित हो – ऐसी भावी योजना है। इसी के अर्न्तगत् जैनधर्म की कहानियाँ भाग-१७ भी शीघ्र आ रहा है।

साहित्य प्रकाशन फण्ड, आजीवन ग्रन्थमाला शिरोमणि संरक्षक, परमसंरक्षक एवं संरक्षक सदस्यों के रूप में जिन दातार महानुभावों का सहयोग मिला है, हम उन सबका भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं तथा आशा करते हैं कि भविष्य में भी सभी इसी प्रकार सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

**विनीत:**

**मोतीलाल जैन**
अध्यक्ष

**प्रेमचन्द जैन**
साहित्य प्रकाशन प्रमुख

## आवश्यक सूचना

पुस्तक प्राप्ति अथवा सहयोग हेतु राशि ड्राफ्ट द्वारा
"**अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, खैरागढ़**" के नाम से भेजें।
हमारा बैंक खाता स्टेट बैंक आफ इण्डिया की खैरागढ़ शाखा में है।

## विनम्र आदराञ्जली

**जन्म**
1/12/1978
(खैरागढ़, म.प्र.)

**स्वर्गवास**
2/2/1993
(दुर्ग पंचकल्याणक)

### स्व. तन्मय (पुखराज) गिड़िया

अल्पवय में अनेक उत्तम संस्कारों से सुरभित, भारत के सभी तीर्थों की यात्रा, पर्वों में यम-नियम में कट्टरता, रात्रि भोजन त्याग, टी.वी. देखना त्याग, देवदर्शन, स्वाध्याय, पूजन आदि छह आवश्यक में हमेशा लीन, सहनशीलता, निर्लोभता, वैरागी, सत्यवादी, दान शीलता से शोभायमान तेरा जीवन धन्य है।

अल्पकाल में तेरा आत्मा असार-संसार से मुक्त होगा (वह स्वयं कहता था कि मेरे अधिक से अधिक 3 भव बाकी हैं।) चिन्मय तत्त्व में सदा के लिए तन्मय हो जावे – ऐसी भावना के साथ यह वियोग का वैराग्यमय प्रसंग हमें भी संसार से विरक्त करके मोक्षपथ की प्रेरणा देता रहे – ऐसी भावना है।

**हम हैं**

| | | | |
|---|---|---|---|
| **दादा** | स्व. श्री कंवरलाल जैन | **दादी** | स्व. मथुराबाई जैन |
| **पिता** | श्री मोतीलाल जैन | **माता** | श्रीमती शोभादेवी जैन |
| **बुआ** | श्रीमती ढेलाबाई | **फूफा** | स्व. तेजमाल जैन |
| **जीजा** | श्री शुद्धात्मप्रकाश जैन | **जीजी** | सौ. श्रद्धा जैन, विदिशा |
| **जीजा** | श्री योगेशकुमार जैन | **जीजी** | सौ. क्षमा जैन, धमतरी |

## हमारे मार्गदर्शक

**श्री दुलीचंद बरडिया राजनाँदगाँव**
पिता – स्व. फतेलालजी बरडिया

**श्रीमती स्व. सन्तोषबाई बरडिया**
पिता – स्व. सिरेमलजी सिरोहिया

सरल स्वभावी बरडिया दम्पत्ति अपने जीवन में वर्षों से सामाजिक और धार्मिक गतिविधियों से जुड़े हैं। सन् 1993 में आप लोगों ने 80 साधर्मियों को तीर्थयात्रा कराने का पुण्य अर्जित किया है। इस अवसर पर स्वामी वात्सल्य कराकर और जीवराज खमाकर शेष जीवन धर्मसाधना में बिताने का मन बनाया है।

***विशेष*** – आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजीस्वामी के दर्शन और सत्संग का लाभ लिया है।

## परिवार

| पुत्र | पुत्रवधु | पुत्री | दामाद |
|---|---|---|---|
| ललित | लीला | चन्द्रकला | गौतमचंद बोथरा, |
| स्व. निर्मल | प्रभा | | भिलाई |
| अनिल | मंजु | शशिकला | अरुणकुमार पालावत, |
| सुशील | सुधा | | जयपुर |

# ग्रन्थमाला सदस्यों की सूची

## परमशिरोमणि संरक्षक सदस्य

श्री हेमल भीमजी भाई शाह, लन्दन
श्री विनोदभाई देवसी कचराभाई शाह, लन्दन
श्री स्वयं शाह ओस्त्रो व्स्की ह. शीतल विजेन
श्रीमती ज्योत्सना बेन विजयकान्त शाह, अमेरिका
श्रीमती मनोरमादेवी विनोदकुमार, जयपुर
पं. श्री कैलाशचन्द पवनकुमार जैन, अलीगढ़
श्री जयन्तीलाल चिमनलाल शाह ह.सुशीला अमेरिका

## शिरोमणि संरक्षक सदस्य

झनकारीबाई खेमराज बाफना चेरिटेबल ट्रस्ट, खैरागढ़
मीनाबेन सोमचन्द भगवानजी शाह, लन्दन
श्री अभिनन्दनप्रसाद जैन, सहारनपुर
श्रीमती सूरजबेन अमुलखभाई सेठ, मुम्बई
श्रीमती ज्योत्सना महेन्द्र मणीलाल मलाणी, माटुंगा
स्व. धापू देवी ताराचन्द गंगवाल, जयपुर
ब्र. कुसुम जैन, कुम्भोज बाहुबली

## परमसंरक्षक सदस्य

श्रीमती शान्तिदेवी कोमलचंद जैन, नागपुर
श्रीमती पुष्पाबेन कांतिभाई मोटाणी, बम्बई
श्रीमती हंसुबेन जगदीशभाई लोदरिया, बम्बई
श्रीमती लीलादेवी श्री नवरत्नसिंह चौधरी, भिलाई
श्रीयुत प्रशान्त-अक्षय-सुकान्त-केवल, लन्दन
श्रीमती पुष्पाबेन भीमजीभाई शाह, लन्दन
श्री सुरेशभाई मेहता, बम्बई एवं श्री दिनेशभाई, मोरबी
श्री महेशभाई मेहता, बम्बई एवं
श्री प्रकाशभाई मेहता, नेपाल
श्री रमेशभाई, नेपाल एवं श्री राजेशभाई मेहता, मोरबी
श्रीमती वसंतबेन जेवंतलाल मेहता, मोरबी
स्व.हीराबाई, हस्ते-श्री प्रकाशचंद मालू, रायपुर
श्रीमती चन्द्रकला प्रेमचन्द जैन, खैरागढ़
स्व. मथुराबाई कँवरलाल गिड़िया, खैरागढ़
श्रीमती कंचनदेवी दुलीचन्द जैन गिड़िया, खैरागढ़
दमयन्तीबेन हरीलाल शाह चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई

## संरक्षक सदस्य

श्रीमती शोभादेवी मोतीलाल गिड़िया, खैरागढ़
श्रीमती धुड़ीबाई खेमराज गिड़िया, खैरागढ़
श्रीमती ढेलाबाई तेजमाल नाहटा, खैरागढ़
श्री शैलेषभाई जे. मेहता, नेपाल
ब्र. ताराबेन ब्र. मैनाबेन, सोनगढ़
स्व. अमराबाई नांदगांव, ह. श्री घेवरचंद डाकलिया
श्रीमती चन्द्रकला गौतमचन्द बोथरा, भिलाई
श्रीमती गुलाबबेन शांतिलाल जैन, भिलाई
श्रीमती राजकुमारी महावीरप्रसाद सरावगी, कलकत्ता
श्री प्रेमचन्द रमेशचन्द जैन शास्त्री, जयपुर
श्री प्रफुल्लचन्द संजयकुमार जैन, भिलाई
स्व. लुनकरण, झीपुबाई कोचर, कटंगी
स्व. श्री जेठाभाई हंसराज, सिकंदराबाद
श्री शांतिनाथ सोनाज, अकलूज
श्रीमती पुष्पाबेन चन्दुलाल मेघाणी, कलकत्ता
श्री लवजी बीजपाल गाला, बम्बई
स्व. कंकुबेन रिखबदास जैन ह. शांतिभाई, बम्बई
एक मुमुक्षुभाई, ह. सुकमाल जैन, दिल्ली
श्रीमती शांताबेन श्री शांतिभाई झवेरी, बम्बई
स्व. मूलीबेन समरथलाल जैन, सोनगढ़
श्रीमती सुशीलाबेन उत्तमचंद गिड़िया, रायपुर
स्व. रामलाल पारख, ह. नथमल नांदगांव
श्री बिशम्भरदास महावीरप्रसाद जैन सर्राफ, दिल्ली
श्रीमती जैनाबाई, भिलाई ह. कैलाशचन्द शाह
सौ. रमाबेन नटवरलाल शाह, जलगाँव
सौ. सविताबेन रसिकभाई शाह, सोनगढ़
श्री फूलचंद विमलचंद झांझरी उज्जैन,
श्रीमती पतासीबाई तिलोकचंद कोठारी, जालबांधा
श्री छोटालाल केशवजी भायाणी, बम्बई
श्रीमती जशवंतीबेन बी. भायाणी, घाटकोपर
स्व. भैरोदान संतोषचन्द कोचर, कटंगी
श्री चिमनलाल ताराचंद कामदार, जैतपुर
श्री तखतराज कांतिलाल जैन, कलकत्ता
श्रीमती ढेलाबाई चेरिटेबल ट्रस्ट, खैरागढ़

श्रीमती तेजबाई देवीलाल मेहता, उदयपुर
श्रीमती सुधा सुबोधकुमार सिंघई, सिवनी
गुप्तदान, हस्ते – चन्द्रकला बोथरा, भिलाई
श्री फूलचंद चौधरी, बम्बई
सौ. कमलाबाई कन्हैयालाल डाकलिया, खैरागढ़
श्री सुगालचंद विरधीचंद चोपड़ा, जबलपुर
श्रीमती सुनीतादेवी कोमलचन्द कोठारी, खैरागढ़
श्रीमती स्वर्णलता राकेशकुमार जैन, नागपुर
श्रीमती कंचनदेवी पन्नालाल गिड़िया, खैरागढ़
श्री लक्ष्मीचंद सुन्दरबाई पहाड़िया, कोटा
श्री शान्तिकुमार कुसुमलता पाटनी, छिन्दवाड़ा
श्री छीतरमल बाकलीवाल जैन ट्रेडर्स, पीसांगन
श्री किसनलाल देवड़िया ह. जयकुमारजी, नागपुर
सौ. चिंताबाई मिट्ठूलाल मोदी, नागपुर
श्री सुदीपकुमार गुलाबचन्द, नागपुर
सौ. शीलाबाई मुलामचन्दजी, नागपुर
सौ. मोतीदेवी मोतीलाल फलेजिया, रायपुर
सौ. सुमन जयकुमार जैन, डोंगरगढ़
समकित महिला मंडल, डोंगरगढ़
सौ. कंचनदेवी जुगराज कासलीवाल, कलकत्ता
श्री दि. जैन मुमुक्षु मण्डल सागर,
सौ. शांतिदेवी धनकुमार जैन, सूरत
श्री चिन्द्रूप शाह, बम्बई
स्व. फेफाबाई पुसालालजी, बैंगलोर
ललितकुमार डॉ. श्री तेजकुमार गंगवाल, इन्दौर
स्व. नोकचन्दजी, ह. केशरीचंद सावा सिल्हाटी
कु. वंदना पन्नालालजी जैन, झाबुआ
कु. मीना राजकुमार जैन, धार
सौ. वंदना संदीप जैनी ह.कु. श्रेया जैनी, नागपुर
सौ. केशरबाई ध. प. स्व. गुलाबचन्द जैन, नागपुर
जयवंती बेन किशोरकुमार जैन
श्री मनोज शान्तिलाल जैन
श्रीमती शकुन्तला अनिलकुमार जैन, मुंगावली
इंजी.आरती पिता श्री अनिलकुमार जैन, मुंगावली
श्रीमती पानादेवी मोहनलाल सेठी, गोहाटी
श्रीमती माणिकबाई माणिकचन्द जैन, इन्दौर
भूरीबाई स्व. फूलचन्द जैन, जबलपुर
स्व. सुशीलाबेन हिम्मतलाल शाह, भावनगर
श्री किशोरकुमार राजमल जैन, सोनगढ़
श्री जयपाल जैन, दिल्ली
श्री सत्संग महिला मण्डल, खैरागढ़
श्रीमती किरण – एस.के. जैन, खैरागढ़
स्व. गैंदामल - ज्ञानचन्द - सुमतप्रसाद, खैरागढ़
स्व. मुकेश गिड़िया स्मृति ह. निधि-निश्चल, खैरागढ़
सौ. सुषमा जिनेन्द्रकुमार, खैरागढ़
श्री अभयकुमार शास्त्री, ह. समता-नम्रता, खैरागढ़
स्व. वसंतबेन मनहरलाल कोठारी, बम्बई
सौ. अचरजकुमारी श्री निहालचन्द जैन, जयपुर
सौ. गुलाबदेवी लक्ष्मीनारायण रारा, शिवसागर
सौ. शोभाबाई भवरीलाल चौधरी, यवतमाल
सौ. ज्योति सन्तोषकुमार जैन, डोभी
श्री बाबूलाल तोताराम लुहाड़िया, भुसावल
स्व. लालचन्द बाबूलाल लुहाड़िया, भुसावल
सौ. ओमलता लालचन्द जैन, भुसावल
श्री योगेन्द्रकुमार लालचन्द लुहाड़िया, भुसावल
श्री ज्ञानचन्द बाबूलाल लुहाड़िया, भुसावल
सौ. साधना ज्ञानचन्द जैन लुहाड़िया, भुसावल
श्री देवेन्द्रकुमार ज्ञानचन्द लुहाड़िया, भुसावल
श्री महेन्द्रकुमार बाबूलाल लुहाड़िया, भुसावल
सौ. लीना महेन्द्रकुमार जैन, भुसावल
श्री चिन्तनकुमार महेन्द्रकुमार जैन, भुसावल
श्री कस्तूरी बाई बल्लभदास जैन, जबलपुर
स्व.यशवंत छाजेड़ ह.श्री पन्नालाल जैन, खैरागढ़
अनुभूति-विभूति अतुल जैन, मलाड
श्री आयुष्य जैन संजय जैन, दिल्ली
श्री सम्यक अरुण जैन, दिल्ली
श्री सार्थक अरुण जैन, दिल्ली
श्री केशरीमल नीरज पाटनी, ग्वालियर
श्री परागभाई हरिवदन सत्यपंथी, अहमदाबाद
लक्ष्मीबेन वीरचन्द शाह ह. शारदाबेन, सोनगढ़
श्री प्रशम जीतूभाई मोदी, सोनगढ़
हेमलाल मनोहरलाल सिंघई, बोनकट्टा

# साहित्य प्रकाशन फण्ड

१००१/- रु. देने वाले –

ज्योत्सनाबेन विजयकान्त शाह, अमेरिका

५०१/- रु. देने वाले –

दमयन्तीबेन हरीलाल शाह, ह. मधुभाई मुम्बई

पुष्पाबेन गोपालजी, दिल्ली

३०१/- रु. देने वाले –

सौ.चन्द्रकला प्रेमचन्द जैन, ह.अभय, खैरागढ़

२५१/- रु. देने वाले –

झनकारीबाई खेमराज बाफना चे. ट्रस्ट, खैरागढ़

ब्र. ताराबेन मैनाबेन, सोनगढ़

२०१/- रु. देने वाले –

श्री महेन्द्र कुमार अशोक कुमार, सिवनी

श्री विमलचन्द शरद कुमार जी डोंगरगढ़

श्री रमेशचन्द शादरे, नागपुर

सौ.कंचनदेवी दुलीचन्द जैन, ह.कमलेश जैन, खैरागढ़

श्रीमती ढेलाबाई, ह., सौ. शोभा मोतीलाल जैन, खैरागढ़

श्री घेवरचन्द राजेन्द्र कु.ढाकलिया, राजनांदगाँव

श्रीमती मनोरमादेवी विनोदकुमार जैन, जयपुर

श्री निलेश शामजी शाह, गोरेगाॅव

श्री विपुल शामजी शाह, गोरेगाॅव

श्रद्धा पूजा सतीश शाह, मलाड

श्री ऋषभ-रुचि-चन्द्रकान्त कामदार, राजकोट

अनुभूति-विभूति अतुल जैन, मलाड

श्रीमती वंदना-जिनेन्द्र कुमार जैन, खैरागढ़

१०१/- रु. देने वाले –

श्री पन्नालाल मनोजकुमार गिड़िया, खैरागढ़

श्रीमती सरला जैन हस्ते निधि-निश्चल, खैरागढ़

श्रीमती पूर्णिमा जैन, कटंगी

स्व. प्रेमचन्द कानजीभाई ह. हरीशभाई, सोनगढ़

नील राजेशभाई दलाल, ह. रीटाबेन

एक मुमुक्षुबेन, अहमदबाद

# कर्मदेव और धर्मदेव

**कर्मदेव** : .......संसारी प्राणी तो मेरी उपस्थिति के अनुरूप ही राग-द्वेष करने और सुख-दुःख का अनुभव करने को बाध्य हैं।

**धर्मदेव** : सुनो कर्मदेव ! स्वभावतः आत्मा ज्ञान-दर्शन उपयोगमयी चैतन्य महा पदार्थ है। अनन्त-अनन्त शक्तियों का पुंज, गुणों का निधान, निरावरण, निरपेक्ष ऐसा त्रिकाल शुद्ध आनन्द-कन्द स्वयं-बुद्ध परमात्मा है। किन्तु अपने इस शाश्वत स्वरूप से च्युत होकर संसारी जीव जब आपके बहुरूपियेपन में व्यामोहित बुद्धि करके मदोन्मत्त होता है, तो उसके हृदय में विभाव परिणामों की उत्पत्ति होती है, तभी आपको यह अहंकार करने का अवसर मिल जाता है कि मैंने जीव को रागी-द्वेषी किया, मैंने जीव को सुखी-दुःखी बनाया।

**कर्मदेव** : विभाव परिणामों का नियन्ता तो अनन्तः मैं ही सिद्ध हुआ।

**धर्मदेव** : नहीं कर्मदेव ! विभाव परिणामों का मूल कारण जीव का परद्रव्य में एकत्व बुद्धिरूप अध्यास है। जीव अपनी योग्यता से स्वतन्त्रतापूर्वक स्व-सन्मुख होकर स्वभाव रूप भी परिणमन करता है। इसमें आपका कोई हस्तक्षेप नहीं चलता। हाँ....... आप निमित्त अवश्य हैं।

**कर्मदेव** : निमित्त तो हूँ न ! मेरे निमित्त बिना तो संसारी प्राणी का कोई उपक्रम संभव नहीं।......

**धर्मदेव** : कार्योत्पत्ति का स्वकाल हो और वहाँ निमित्त अनुपस्थित रहे, ऐसी असंभव वस्तु-व्यवस्था लोक में कहीं नहीं है।.... और कर्मदेव ! निमित्त अपेक्षा भी विचार किया जाये तो एक कटु सत्य और है।

**कर्मदेव** : (जिज्ञासा पूर्वक) वह क्या?

**धर्मदेव** : जीव के एक समय के विकारी परिणाम को निमित्त करके कार्माण वर्गणा के अनन्तानन्त रजकण मिलकर आपका निर्माण करते हैं। विचार कीजिए, कौन किसका नियन्ता है।.... कर्मदेव ! यह तो जीव के विकार परिणाम की शक्ति है। निर्विकार परिणाम की शक्ति जानते हैं, क्या है?

**कर्मदेव** : (विस्मय से) क्या?....

**– मुक्ति के संघर्ष से साभार**

# श्रावक की धर्मसाधना

## सकलकीर्ति श्रावकचार : अध्याय ५ से १०

## सम्यग्दर्शन के आठ अंग

### (आठ अंगों में प्रसिद्ध आठ कथायें)

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को अपनी शुद्धात्मा की अनुभूति सहित आठ अंगों का पालन होता है। सकलकीर्ति श्रावकाचार एवं प्रथमानुयोग के आधार पर ब्र. हरिभाई द्वारा संकलित उन कथाओं को यहाँ दिया जा रहा है। उनके प्रसिद्ध चरित्र नायकों के नाम इसप्रकार हैं—

**अंजन निरंजन हुए जिनने, नहीं शंका चित धरी।**
**प्रसिद्ध अनंतमती सती ने, विषय-आशा परिहरी।।**
**सज्जन उदायन नृपति वर ने, ग्लानि जीती भाव से।**
**सत्-असत् का किया निर्णय, रेवती ने चाव से।।**

**जिनभक्तजी ने चोर का वह, महा दूषण ढक दिया।**
**जय वारिषेण मुनीश जिनने, चपलचित को थिर किया।।**
**सु विष्णुकुमार कृपालु मुनि ने, संघ की रक्षा करी।**
**जय वज्रमुनि जयवन्त तुमसे, धर्म महिमा विस्तरी।।**

रत्नत्रय की पूजा के अन्तर्गत सम्यग्दर्शन पूजा की जयमाला के अन्त में आता है कि हे जीवो! सम्यग्दर्शन के आठ गुणों की आराधना से सिद्धदशा के आठ महागुण प्राप्त करो... जिससे संसार में पुन: अवतरण न हो । कहा भी है—

**गुण आठ सौं गुण आठ लहिकैं, इहाँ फेर न आवना।**

सिद्धदशा की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान या चारित्र भी निष्फल हैं; इसलिए हे भव्यजीवो! बहुमानपूर्वक इसकी आराधना करो।

## 1

## नि:शांकित अंग में प्रसिद्ध अंजन चोर की कहानी

**तत्त्व यही है ऐसा ही है, नहीं और नहीं और प्रकार।**
**जिनकी सन्मारग में रुचि हो, ऐसी मानो खड्ग की धार।।**
**है सम्यक्त्व अंग यह पहला, 'नि:शांकित' है इसका नाम।**
**इसके धारण करने से ही, 'अंजन चोर' हुआ सुख धाम।।**

अंजन चोर, वह कोई मूल में चोर नहीं था, वह तो उसी भव में मोक्ष पाने वाला एक राजकुमार था । उसका नाम था ललित कुमार। अभी तो वे निरंजन-भगवान हैं, लेकिन लोक में उन्हें अंजन चोर के नाम से पहचानते हैं । आइये, आगे पढ़ते हैं, उनकी कहानी।

उस राजकुमार ललित को राजा ने दुराचारी जानकर राज्य से बाहर निकल दिया । उसने एक ऐसे अंजन (काजल) को सिद्ध कर लिया, जिसके लगाने से वह अदृश्य हो जाता था । वह काजल उसे चोरी करने में सहायक बना था, इसलिए वह अंजन चोर नाम से प्रसिद्ध हो गया । चोरी करने के उपरान्त वह जुआ और वेश्या-सेवन जैसे महापाप भी करने लगा ।

एक बार उसकी प्रेमिका ने रानी के गले में सुन्दर रत्न-हार देखा और उसे पहनने की उसके मन में तीव्र इच्छा हुई । जब अंजन चोर उसके पास आया तो उसने उससे कहा– "हे अंजन! अगर तुम्हारा मुझ पर सच्चा प्रेम है तो रानी के गले का रत्नहार मुझे लाकर दो ।"

अंजन ने कहा— ''देवी! यह बात तो मेरे लिए बहुत ही आसान है ।'' ऐसा कहकर वह चतुर्दशी की अन्धेरी रात में राजमहल में गया और रानी के गले का हार चुराकर भागने लगा । रानी का अमूल्य रत्नहार चोरी होने से चारों ओर शोर मच गया । सिपाही दौड़े, उन्हें चोर तो दिखाई नहीं देता था, लेकिन उसके हाथ में पकड़ा हुआ हार अन्धेरे में जगमगाता हुआ दिखाई देता था, उसे देखकर सिपाही उसे पकड़ने के लिए पीछे भागे । पकड़े जाने के भय से हार दूर फेक कर अंजन चोर भाग गया और श्मशान में पहुँचा । थक जाने के कारण एक पेड़ के नीचे खड़ा हो गया, वहाँ उसने एक आश्चर्यकारी घटना देखी ।

एक मनुष्य को उसने पेड़ के ऊपर एक सींका बाँध कर उसमें चढ़ते-उतरते देखा, जो कुछ बोल भी रहा था । ''कौन था वह मनुष्य? और इतनी अन्धेरी रात में यहाँ क्या कर रहा था?''

[पाठको! चलो, हम उस अंजन चोर को थोड़ी देर यहीं खड़ा रहने दें और उस अनजान मनुष्य की पहिचान करें। ]

अमितप्रभ और विद्युत्प्रभ नाम के दो देव पूर्व भव में मित्र थे। अमितप्रभ तो जैनधर्म का भक्त था और विद्युत्प्रभ कुधर्म को मानता था । एक बार वे दोनों धर्म की परीक्षा करने निकले ।

रास्ते में एक अज्ञानी तपस्वी को तप करते हुए देखकर उन्होंने उसकी परीक्षा करनी चाही । उस तपस्वी को विद्युत्प्रभ ने कहा— ''अरे बाबा! पुत्र के बिना सद्‌गति नहीं होती— ऐसा शास्त्र में कहा है ।''

ऐसा सुनकर वह तपस्वी तो झूठे धर्म की श्रद्धा से उत्पन्न हुआ वैराग्य छोड़ कर संसार-भोग भोगने चला गया । लेकिन यह देखकर विद्युत्प्रभ की कुगुरुओं की श्रद्धा तो छूट गई । लेकिन बाद में उसने कहा— ''अब जैन गुरु की परीक्षा करेंगे ।''

तब अमितप्रभ ने उसे कहा—''हे मित्र ! जैन साधु तो परम वीतरागी होते हैं, उनकी तो बात ही क्या करें । अरे, उनकी परीक्षा

तो दूर रही, देखो, सामने यह जिनदत्त नामक एक श्रावक सामायिक की प्रतिज्ञा करके अन्धेरी रात में यहाँ श्मशान में अकेला ध्यान कर रहा है, उसकी तुम परीक्षा करो ।''

तब उस देव ने अनेक प्रकार से उपद्रव किया, परन्तु जिनदत्त सेठ तो सामायिक में पर्वत के समान अटल रहे, अपनी आत्मा की शान्ति से जरा भी डगमगाये नहीं । अनेक प्रकार के भोग-विलास बताये, तो भी वे लालायित नहीं हुए । एक जैन श्रावक की ऐसी दृढ़ता देखकर वह देव बहुत प्रसन्न हुआ । बाद में सेठजी ने उसे जैनधर्म की महिमा समझायी— हे देव ! आत्मा से देह भिन्न है । आत्मा के अवलम्बन से ही जीव अपूर्व शान्ति का अनुभव करता है और उसी के अवलम्बन से वह मुक्ति पाता है।

यह सुनकर उस देव को भी जैनधर्म की श्रद्धा हुई । उसने सेठजी का उपकार माना और उन्हें आकाशगामिनी विद्या प्रदान की ।

आकाशगामिनी विद्या के बल से जिनदत्त सेठ प्रतिदिन मेरु पर्वत पर जाते और वहाँ के अद्‌भुत रत्नमय जिनबिम्बों के तथा चारणऋद्धिधारी मुनिवरों के दर्शन करते, जिससे उन्हें बहुत आनन्द आता ।

एक बार सोमदत्त नामक माली ने सेठजी से पूछा— ''सेठजी आपने आकाशगामिनी विद्या सम्बन्धी बहुत-सी बातें कहीं और रत्नमय जिनबिम्बों का बहुत वर्णन किया, उसे सुनकर मुझे भी वहाँ के दर्शन करने की भावना जागी है । आप मुझे आकाशगामिनी विद्या सिखाइये, जिससे मैं भी वहाँ के दर्शन करूँ ।''

सेठजी ने माली को वह विद्या सिखाई । सेठजी के बताये अनुसार अन्धेरी चतुर्दशी की रात के समय श्मशान में जाकर उसने पेड़ पर सींका लटकाया और नीचे जमीन पर तीक्ष्ण नोंकदार भाले लगाये । आकाशगामिनी विद्या की साधना करने के लिए सींके में बैठ कर, पंच णमोकार मन्त्र बोलते हुए सींके की रस्सी काटनी थी, परन्तु

नीचे लगे भालों को देखकर उसे डर लगता था और मन्त्र में शंका आती थी कि कदाचित् मन्त्र सच्चा नहीं हुआ और मैं नीचे गिर पड़ा तो मेरा शरीर छिद जायेगा । ऐसी शंका से वह नीचे उतर जाता। थोड़ी देर पश्चात् उसे ऐसा विचार आता कि सेठजी ने जो कहा, वह सच्चा होगा तो? अत: फिर सींके में जा बैठता ।

इस प्रकार वह बारम्बार सींके से चढ़ता-उतरता, लेकिन वह निःशंक होकर उस रस्सी को काट नहीं सका । जिस प्रकार चैतन्यभाव की निःशंकता बिना शुद्ध-अशुद्ध के विकल्प में झूलता हुआ जीव

निर्विकल्प अनुभव रूप आत्मविद्या को साध नहीं सकता, उसी प्रकार मन्त्र के सन्देह में झूलता हुआ वह माली मन्त्र सिद्ध नहीं कर सका।

इतने में अंजन चोर भागते-भागते वहाँ पहुँचा। माली को ऐसी विचित्र क्रिया करते हुए देखकर उसने पूछा– "अरे भाई ! ऐसी अन्धेरी रात में तुम यह क्या कर रहे हो?"

सोमदत्त माली ने उसे सब बात बताई, उसे सुनते ही अंजन चोर का पंच णमोकार मन्त्र पर परम विश्वास बैठ गया। उसने माली से कहा– "लाओ, मैं इस मन्त्र को सिद्ध करता हूँ।"

ऐसा कहकर श्रद्धापूर्वक मन्त्र बोल कर निःशंकपने सींके की रस्सी उसने काट दी........। अहो आश्चर्य! नीचे गिरने के पहले ही देव-देवियों ने उसे ऊपर ही झेल लिया........ और कहा– "मन्त्र के ऊपर तुम्हारी निःशंक श्रद्धा से तुम्हें आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो गई है, उसकी वजह से आकाशमार्ग से तुम्हें जहाँ भी जाना हो, जा सकते हो।"

तब से अंजनचोर चोरी करना छोड़ कर जैनधर्म का परम भक्त बन गया, वह कहने लगा– "जिनदत्त सेठ के प्रताप से मुझे यह विद्या प्राप्त हुई है। जिस प्रकार वे भगवान के दर्शन करने के लिए जहाँ जाते हैं, वहाँ जाने की मेरी इच्छा हुई है और वहाँ जाकर वे जो करते हैं, वैसा ही करने की मेरी इच्छा है।"

**[भाईयो, यहाँ यह बात विशेष ख्याल में लेना है कि अंजन चोर को आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुई तो उसे चोरी का धन्धा करने के लिए उस विद्या का उपयोग करने की दुर्बुद्धि नहीं हुई, परन्तु जिनबिम्बों के दर्शन इत्यादि धर्मकार्य में उसका उपयोग करने की सद्बुद्धि सूझी। यह बात उसके परिणाम पलटने की सूचना देते हैं और इसप्रकार धर्मरुचि के बल से आगे चल कर वह सम्यग्दर्शन पा सकता है।]**

विद्या सिद्ध होने पर अंजन ने विचार किया– "अहो ! जिस

जैनधर्म के एक छोटे से मन्त्र के प्रभाव से मेरे जैसे चोर को यह विद्या सिद्ध हुई तो वह जैनधर्म कितना महान होगा! उसका स्वरूप कितना पवित्र होगा। चलूँ, जिस सेठ के प्रताप से मुझे यह विद्या मिली, उन्हीं सेठ के पास जाकर जैनधर्म के स्वरूप को समझूँ और उन्हीं से वह मन्त्र भी सीख लूँ, जिससे मोक्ष की प्राप्ति हो सके।'' ऐसा विचार कर विद्या के बल से वह मेरुपर्वत पर पहुँचा।

वहाँ पर रत्नमयी अद्भुत अरहन्त भगवन्तों की वीतरागता देख कर वह बहुत प्रसन्न हुआ। उस समय जिनदत्त सेठ वहाँ पर मुनिवरों का उपदेश सुन रहे थे। अंजन ने उनका बहुत उपकार माना और मुनिराज के उपदेश को सुन कर शुद्धात्मा के स्वरूप को समझा। शुद्धात्मा की निःशंक श्रद्धा पूर्वक निर्विकल्प अनुभव करके उसने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया; इतना ही नहीं, पूर्व के पापों का पश्चात्ताप करके उसने मुनिराजों के पास दीक्षा ली, साधु बनकर आत्मध्यान करते-करते उन्हें केवलज्ञान हुआ, पश्चात् वे कैलाशगिरि से मोक्ष पाकर सिद्ध हुए। **अंजन से निरंजन** बन गये, उन्हें हमारा नमस्कार हो।

**(इस कहानी से हमें यह शिक्षा लेना चाहिये कि जैनधर्म पर निःशंक श्रद्धा करके उसकी आराधना करना श्रेयकार है।**

**देह से कोई पापी नहीं होता, परिणामों से पाप-पुण्य होता है। सम्यग्दर्शन सहित यदि आत्मा चण्डाल की देह में भी हो तो गणधर देव उसे ''देव'' कहते हैं। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान एवं चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं फलोदय नहीं होता। यह सम्यग्दर्शन मोक्षरूपी मन्दिर का प्रथम सोपान है।)**

*विवेकीजन यथासंभव संघर्ष को टालने में ही अपनी जीत समझते हैं, उलझने में नहीं। ज्ञानी और अज्ञानी में यदि कभी संघर्ष हो तो जीत सदा अज्ञानी की ही होती है; क्योंकि संघर्ष ज्ञान से नहीं, कषाय से चलता है। ज्ञानी की कषाय कमजोर होने से उसका संघर्ष का संकल्प शीघ्र क्षीण हो जाता है। —* ***सत्य की खोज, पृष्ठ १६***

## 2

# नि:कांक्षित अंग में प्रसिद्ध अनन्तमती की कहानी

**भाँति-भाँति के कष्ट सहे भी, जिसका मिलना कर्माधीन।**
**जिसका उदय विविध दु:खयुत है, जो है पाप-बीज अतिहीन।।**
**जो है अन्त सहित लौकिक-सुख, कभी चाहना नहिं उसको।**
**'नि:कांक्षित' यह अंग दूसरा, धारे 'अनन्तमती' इसको।।**

अनन्तमती चम्पापुरी के प्रियदत्त सेठ की पुत्री थी तथा उसकी माता का नाम अंगवती था । अनन्तमती को अपने माता-पिता द्वारा उत्तम संस्कार विरासत में ही मिले थे; क्योंकि उनके माता-पिता एक जिनमत तथा संसार के विषयों से विरक्तचित्त सद्गृहस्थ थे।

अनन्तमती सात-आठ वर्ष की बाल्यावस्था में जब अन्य बालक-बालिकाओं के साथ खेलकूद किया करती थी । तब एक बार अष्टाह्निका के समय उनके नगर में धर्मकीर्ति मुनिराज पधारे । उन्होंने सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का उपदेश दिया । नि:कांक्षित अंग का उपदेश देते हुए उन्होंने कहा—

"हे जीवो! संसार के सुख की आकांक्षा छोड़ कर आत्मा के धर्म की आराधना करो । धर्म के फल में जो संसार-सुख की इच्छा करता है, वह अज्ञानी है। सम्यक्त्व के या व्रत के बदले में मुझे देवों की अथवा राज्य की विभूति मिले— ऐसी जो इच्छा है, वह तो संसार-सुख के बदले में सम्यक्त्वादि धर्म को बेचता है, यह तो छाछ के बदले में रत्न-चिन्तामणि को बेचने जैसी मूर्खता है। अहा! स्वयं के चैतन्य-चिन्तामणि को जिसने देखा है, वह बाह्य-विषयों की आकांक्षा क्यों करे?"

अनन्तमती के माता-पिता भी मुनिराज का उपदेश सुनने के लिए आये थे और अनन्तमती को भी साथ में लाये थे । उपदेश के पश्चात् उन्होंने आठ दिन के लिए ब्रह्मचर्य का व्रत लिया और मजाक में अनन्तमती से कहा— "तू भी ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर ले।"

तब बालिका अनन्तमती ने कहा– ठीक है, मैं भी शीलव्रत अंगीकार करती हूँ ।

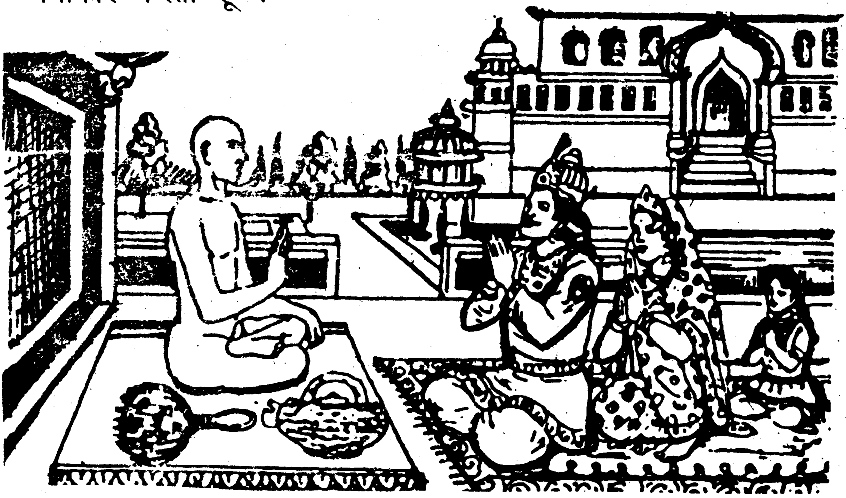

इस प्रसंग के बाद अनेक वर्ष बीत गये । अनन्तमती अब युवती हो गई, उसका यौवन सोलह कलाओं के समान खिल उठा । रूप के साथ उसके धर्म के संस्कार भी वृद्धिंगत हो गये ।

एक बार सखियों के साथ वह बगीचे में घूमने गई और एक झूले पर झूल रही थी । उसी समय आकाशमार्ग से एक विद्याधर राजा जा रहा था । वह अनन्तमती के अद्भुत रूप को देखकर मोहित हो गया, इसलिए वह उसे उठा कर विमान में ले गया, परन्तु इतने में उसकी रानी वहाँ आ पहुँची तो घबरा कर विद्याधर ने अनन्तमती को एक भयंकर वन में छोड़ दिया । ऐसे घोर वन में पड़ी हुई अनन्तमती भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगी और कहने लगी–"अरे ! इस वन में मैं कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? यहाँ कोई मनुष्य भी तो दिखाई नहीं देता ।"

थोड़ी देर पश्चात् वह पूर्व संस्कारवश पंच परमेष्ठी भगवन्तों का स्मरण करने लगी ।

दुर्भाग्य से उस वन का भील राजा शिकार करने के लिए वहाँ आया, उसने अनन्तमती को देखा और वह उस पर मोहित हो गया।

उसके मन में विचार आया कि यह कोई वनदेवी दिखाई देती है, ऐसी अद्‌भुत सुन्दरी मुझे दैवयोग से मिली है । वह उसे घर ले गया ।

घर पहुँच कर वह कहने लगा— "हे देवी ! मैं तुझ पर मुग्ध हो गया हूँ और मैं तुझे अपनी रानी बनाना चाहता हूँ........ तू मेरी आशा पूरी कर ।"

निर्दोष अनन्तमती उस कामी भील राजा की बात सुनकर बहुत घबड़ायी, पर विचार करने लगी— "अरे मैं शीलव्रत की धारक..... और मुझ पर यह क्या हो रहा है? पूर्व में किन्हीं गुणीजनों के शील पर अवश्य मैंने झूठा कलंक लगाया होगा अथवा उनका अनादर किया होगा । उस दुष्ट कर्म के कारण जहाँ भी जाती हूँ, वहाँ मेरे ऊपर ऐसी विपत्ति आ रही है, परन्तु अब मैंने वीतराग धर्म की शरण ली है, इसके प्रताप से शीलव्रत से मैं डगमगाऊँगी नहीं । भले ही प्राण चले जायें, परन्तु मैं अपने शील को नहीं छोड़ूँगी ।"

तब उसने भील से कहा— "अरे दुष्ट! अपनी दुर्बुद्धि को छोड़। तेरे वैभव से मैं ललचाने वाली नहीं हूँ। तेरे वैभव को मैं धिक्कारती हूँ।"

अनन्तमती की यह दृढ़ बात सुनकर भील राजा को गुस्सा आया और वह निर्दयता पूर्वक उस पर बलात्कार करने तैयार हुआ । इतने में अचानक मानो आकाश फाड़ कर एक महादेवी वहाँ प्रगट हुई । उस देवी का तेज वह दुष्ट भील सहन नहीं कर सका, उसके होश उड़ गये और वह हाथ जोड़ कर क्षमा-याचना करने लगा ।

देवी ने कहा— "यह महान शीलव्रतवती सती है । यदि तू उसे जरा भी सतायेगा तो तेरी मौत आ जायेगी ।"

तथा अनन्तमती पर हाथ रख कर उसने कहा— बेटी धन्य है तेरे शील को, तू निर्भय रह । शीलवती सती को एक बार भी कोई दोष लगाने में समर्थ नहीं।" इतना कहकर वह देवी अदृश्य हो गई।

भयभीत होकर उस भील ने अनन्तमती को गाँव के एक सेठ को बेच दिया । वह सेठ प्रथम तो कहने लगा कि वह अनन्तमती को उसके घर पहुँचा देगा, परन्तु वह भी अनन्तमती का रूप देख कर कामान्ध हो

गया और कहने लगा– हे देवी ! अपने हृदय में मुझे स्थान दे और मेरा यह अपार वैभव तू भोग।'' उस पापी की बात सुनकर अनन्तमती स्तब्ध रह गई......''अरे ! अब यह क्या हो गया ?''

वह सेठ को समझाने लगी– अरे सेठ ! आप तो मेरे पितातुल्य हैं। दुष्ट भील के पास से यहाँ आई तो समझने लगी थी कि मेरे पिता मुझे मिल गये और आप मुझे मेरे घर पहुँचायेंगे। अरे ! आप भले आदमी होकर भी ऐसी नीच बात क्यों कर रहे हो? यह आपको शोभा नहीं देती, इसलिए इस पाप-बुद्धि को छोड़ दीजिये।''

बहुत समझाने पर भी दुष्ट सेठ नहीं समझा तो अनन्तमती ने विचार किया कि इस दुष्ट पापी का हृदय विनय-प्रार्थना से नही पिघलेगा। इसलिए क्रोधित होकर उस सती ने कहा–''अरे दुष्ट कामान्ध! दूर हो जा मेरी आँखों के सामने से, मैं तेरा मुख भी देखना नहीं चाहती।''

उसका क्रोध देख कर सेठ भी भयभीत हुआ और उसकी अक्ल ठिकाने आ गई, परन्तु बदले की भावना से क्रोधित होकर उसने अनन्तमती को कामसेना नामक वेश्या को सौंप दिया।

अरे ! कहाँ उत्तम संस्कार वाला माता-पिता का घर, और कहाँ यह निकृष्ट वेश्या का घर। अनन्तमती के अन्तःकरण में वेदना का पार नहीं रहा, परन्तु अपने शीलव्रत में वह अडिग रही। संसार के वैभव को देखकर वह बिल्कुल ललचायी नहीं।

ऐसी सुन्दरी प्राप्त होने से कामसेना वेश्या अत्यन्त खुश हुई और अब मैं बहुत धन कमाऊँगी– ऐसा समझ कर वह अनन्तमती को भ्रष्ट करने का प्रयत्न करने लगी। उसने अनन्तमती से अनेक प्रकार की कामोत्तेजक बातें की, बहुत लालच दिखलाया तथा न मानने पर बहुत दुःख दिया, परन्तु अनन्तमती अपने शीलधर्म से रंच मात्र भी डिगी नहीं।

कामसेना ने तो ऐसी आशा की थी कि इस युवती का व्यापार करके वह बहुत धन कमायेगी, लेकिन उसकी आशा के ऊपर पानी फिर गया। उस बेचारी विषय-लोलुपी बाई को क्या मालूम था कि उस युवती कन्या ने तो धर्म के लिए ही अपना जीवन अर्पित किया है और संसार

के विषय-भोगों की उसे थोड़ी भी आकांक्षा नहीं है, सांसारिक भोगों के प्रति उसका चित्त बिल्कुल नि:कांक्ष है । अत: शील की रक्षा करने के लिए जो भी दु:ख उसे भोगने पड़े, उससे वह भयभीत नहीं हुई ।

अहा ! जिसका चित्त नि:कांक्ष होता है, वह भयभीत होने पर भी संसार के सुख की क्यों इच्छा करेगा? जिसने अपने आत्मा में ही परम सुख का निधान देखा है, वह धर्मात्मा धर्म के फल में सांसारिक वैभव/सुख की स्वप्न में भी इच्छा नहीं करता— ऐसा नि:कांक्ष होता है।

अनन्तमती ने भी शील गुण की दृढ़ता से संसार के सभी वैभव की आकांक्षा छोड़ दी थी, अत: किसी भी वैभव से ललचाये बिना वह शील में अटल रही ।

अहो, स्वभाव के सुख के सामने संसार के सुख की आकांक्षा कौन करेगा? सच देखा जाय तो संसार के सुख की आकांक्षा छोड़ कर नि:कांक्ष होती हुई अनन्तमती की यह दशा ऐसा सूचित करती है कि उसके परिणाम का रुख स्वभाव की ओर झुक रहा है ।

ऐसे धर्म-सन्मुख जीव संसार के दु:ख से कभी डरते नहीं और अपना धर्म कभी छोड़ते नहीं, परन्तु अन्य संसारी जीव संसार के सुख की इच्छा से अपने धर्म में अटल रह सकते नहीं, दु:ख से डर कर वे अपने धर्म को छोड़ देते हैं ।

जब कामसेना ने जान लिया कि अनन्तमती उसको किसी भी प्रकार से प्राप्त नहीं हो सकती, तब उसने बहुत धन लेकर सिंहरत्न नामक राजा को सौंप दिया ।

अब बेचारी अनन्तमती मानो मगर के मुँह से निकल कर सिंह के जबड़े में जा पड़ी । वहाँ उस पर और नई मुसीबत आ गई । दुष्ट सिंह राजा भी उस पर मोहित हो गया, परन्तु अनन्तमती ने उसका भी तिरस्कार किया ।

तब विषयान्ध बनकर वह पापी सिंह राजा अभिमान पूर्वक उस सती पर बलात्कार करने तैयार हुआ.......परन्तु एक क्षण में उसका

अभिमान चूर-चूर हो गया । सती के पुण्य-प्रताप (शील-प्रताप) से वनदेवी वहाँ प्रगट हुई और दुष्ट राजा को फटकारते हुए कहने लगी— "खबरदार.....! भूलकर भी इस सती को हाथ लगाना नहीं ।"

सिंह राजा तो वनदेवी को देख कर ही पत्थर जैसा हो गया, उसका हृदय भय से काँपने लगा । उसने क्षमा माँगी और तुरन्त ही सेवक को बुलाकर अनन्तमती को सम्मान पूर्वक वन में छोड़ कर आने को कहा ।

ऐसे अनजान वन में कहाँ जाऊँ? इसका अनन्तमती को कुछ पता नहीं था । इतने सारे अत्याचार होने पर भी अपने शील धर्म की रक्षा हुई, इसलिए सन्तोष पूर्वक घने वन में भी वह पंच परमेष्ठी का स्मरण करते हुए आगे बढ़ने लगी । महान भाग्य से थोड़ी देर पश्चात् उसने आर्यिकाओं का संघ देखा । अत्यन्त उल्लसित होकर आनन्द पूर्वक वह आर्यिका माता की शरण में गई ।

अहो ! विषय-लोलुप संसार में जिसे कहीं शरण नहीं मिली, उसने वीतराग मार्गानुगामी साध्वी के पास शरण ली । उनके आश्रय में आँसू भरी आँखों से उसने अपनी बीती कहानी सुनायी उसे सुन कर भगवती माता ने वैराग्य पूर्वक उसे आश्वस्त किया और उसके शील की प्रशंसा की । भगवती माता के सान्निध्य में रह कर अनन्तमती शान्ति पूर्वक आत्म-साधना करने लगी ।

इधर चम्पापुरी में जब से अनन्तमती को विद्याधर उठा कर ले गया था, तब ही से उसके माता-पिता बहुत दु:खी थे । पुत्री के वियोग से खेद-खिन्न होकर मन को शान्त करने के लिए वे तीर्थ यात्रा करने निकले और यात्रा करते-करते तीर्थंकर भगवन्तों की जन्मभूमि अयोध्या नगरी में पहँचे । प्रियदत्त का साला (अनन्तमती का मामा) जिनदत्त सेठ यहीं रहता था । वहाँ उसके घर आने पर आँगन में एक सुन्दर रंगोली देख कर प्रियदत्त कहने लगे— "हमारी पुत्री अनन्तमती भी ऐसी ही रंगोली निकाला करती थी ।"

उन्हें अपनी प्रिय पुत्री की याद आई, उनकी आँखों से आँसुओं

की धारा बहने लगी । सचमुच यह रंगोली निकालने वाली और कोई नहीं थी, बल्कि स्वयं अनन्तमती ही थी । भोजन करने जब वह यहां आई थी, तब उसने यह रंगोली निकाली थी और बाद में वह आर्यिका संघ में वापस चली गई थी । अत: वे संघ में पहुँचे और वहां अपनी पुत्री को देख कर और उस पर बीती हुई कहानी सुन कर अत्यन्त दु:खी हुए और कहने लगे– "बेटी! तुमने बहुत कष्ट भोगे हैं, अब हमारे साथ घर चलो । तुम्हारी शादी बड़ी धूमधाम से रचायेंगे ।"

शादी की बात सुनते ही अनन्तमती आश्चर्य में पड़ गई और बोली–"पिताजी, आप यह क्या कह रहे हो? मैं तो ब्रह्मचर्य व्रत ले चुकी हूँ । आप तो यह सब जानते हो......आपने ही मुझे यह व्रत दिलवाया था ।"

पिताजी ने कहा–"बेटी वह तो बचपन की बात थी । ऐसी मजाक में ली हुई प्रतिज्ञा को तुम सत्य मानती हो? वैसे भी उस वक्त सिर्फ आठ ही दिन के लिए प्रतिज्ञा लेने की बात थी, इसलिए अब तुम शादी करलो ।"

तब अनन्तमती ने दृढ़ता पूर्वक कहा–"पिताजी, आप भले ही आठ दिन के लिए समझे हों, परन्तु मैंने तो मेरे मन में आजीवन के लिए प्रतिज्ञा धारण कर ली थी । अपनी प्रतिज्ञा मैं प्राणान्त होने पर भी नहीं तोड़ूँगी, इसलिए आप शादी का नाम न लें ।"

अन्त में पिताजी ने कहा– "अच्छा बेटा, जैसी तुम्हारी मर्जी, परन्तु अभी तो तुम हमारे साथ घर चलो, वहीं धर्म-साधना करना ।"

उस पर अनन्तमती कहती है–"पिताजी, इस संसार की लीला मैंने देख ली है । संसार में भोग-लालसा के अलावा अन्य क्या है? इसलिए अब बस करो । पिताजी, इस संसार सम्बन्धी भोगों की मुझे आकांक्षा नहीं रही । मैं तो अब दीक्षा लेकर आर्यिका बनूँगी और इन धर्मात्मा आर्यिका-माता के साथ रहकर आत्मिक सुख को साधूँगी ।"

पिताजी ने उसे रोकने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु जिसके रोम-रोम में वैराग्य छा गया हो, वह इस संसार में क्यों रहे? संसार-

सुखों की स्वप्न में भी इच्छा नहीं करने वाली वह अनन्तमती निःकांक्ष भावना के दृढ़ संस्कार के बल से मोह-बन्धन को तोड़ कर वीतराग धर्म की साधना में तत्पर हो गई थी । पश्चात् उसने पद्मश्री आर्यिका के समीप दीक्षा अंगीकार करली और धर्म-ध्यान पूर्वक समाधि-मरण करके स्त्री पर्याय को छेदकर बारहवें देवलोक में महर्द्धिक देव हुई।

अज्ञान अवस्था में लिए हुए शीलव्रत को भी जिसने दृढ़ता पूर्वक पालन किया और स्वप्न में भी संसार-सुख की तथा अन्य किसी ऋद्धि की कामना न करते हुए आत्मध्यान किया, उस अनन्तमती को देवलोक की प्राप्ति हुई । देवलोक के आश्चर्यकारी वैभव की तो क्या बात! परन्तु निःकांक्षता को लिए वहाँ पर भी उदासीन रहकर वह अनन्तमती अपना आत्महित साध रही है । धन्य है ऐसी निःकांक्षता को, धन्य है ऐसे निःकांक्षित अंग को!!

**[ यह कहानी संसार-सुख की आकांक्षा छोड़ कर आत्मिक सुख की साधना में तत्पर होने की हमें शिक्षा देती है । जिस तरह चक्रवर्ती की सम्पदा को छोड़कर झोपड़ी ग्रहण करना मूर्खता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन एवं व्रतादि रत्नों को छोड़कर विषय-भोगों को ग्रहण करना भी महान मूर्खता है]**

## 3

# निर्विचिकित्सा अंग में प्रसिद्ध उद्दायन राजा की कहानी

**रत्नत्रय से जो पवित्र हो, स्वाभाविक अपवित्र शरीर।**
**उसकी ग्लानि कभी न करना, रखना गुण पर प्रीति सधीर।।**
**'निर्विचिकित्सा' अंग तीसरा, यह सुजनों को प्यारा है।**
**पहले 'उद्दायन' नरपति ने, नीके इसको धारा है।।**

सौधर्म स्वर्ग में देव सभा चल रही थी और इन्द्र महाराज देवों को सम्यग्दर्शन की महिमा समझा रहे थे—"अहो देवो ! सम्यग्दर्शन में आत्मा का कोई अपूर्व सुख होता है । इस सुख के सामने स्वर्ग के वैभव की कोई गिनती नहीं है । इस स्वर्ग लोक में साधु दशा नहीं हो सकती, परन्तु सम्यग्दर्शन की आराधना तो यहाँ पर भी हो सकती है ।

मनुष्य तो सम्यग्दर्शन की आराधना के पश्चात् चारित्र दशा भी प्रगट करके मोक्ष पा सकते हैं । सच में, जो जीव नि:शंकता, नि:कांक्षिता, निर्विचिकित्सा इत्यादि आठ अंग सहित सम्यग्दर्शन के धारक होते हैं, वे धन्य हैं । इसलिए सम्यग्दृष्टि जीवों की हम यहाँ स्वर्ग में भी प्रशंसा करते हैं ।

इस समय कच्छ देश में उद्दायन नामक राजा अभी सम्यग्दर्शन से सुशोभित हैं और सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का वे पालन करते हैं, उसमें भी निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने में वे बहुत दृढ़ हैं। मुनिवरों की सेवा में वे इतने तत्पर हैं कि कैसे भी रोगादि हों तो भी वे जरा भी जुगुप्सा नहीं करते और घृणा बिना परम भक्ति से धर्मात्माओं की सेवा करते हैं । धन्य है उन्हें, अहो ! उन चरमशरीरी को ।"

राजा के गुणों की ऐसी प्रशंसा सुनकर वासव नामक एक देव के मन में उन्हें देखने की इच्छा हुई और वह स्वर्ग से उतरकर मनुष्य लोक में आया ।

इधर उद्दायन राजा एक मुनिराज को देखकर भक्ति पूर्वक आहार दान के लिए पड़गाह रहे हैं । हे स्वामी!........... हे स्वामी!!........हे स्वामी..........!!!

पश्चात् रानी सहित उद्दायन राजा नवधा भक्ति पूर्वक मुनिराज को आहार दान देने लगे ।

अरे, लेकिन यह क्या? बहुत से लोग मुनि वेषधारी वासव देव से दूर भागने लगे, बहुतों ने तो अपने चेहरे को कपड़ों से ढक लिया, क्योंकि मुनि के काने-कुबड़े शरीर में भयंकर कोढ़ रोग हुआ था और उसमें से असह्य दुर्गन्ध आ रही थी, हाथ पैर से पीप बह रही थी ।

परन्तु राजा का इस पर कोई लक्ष्य नहीं था, वे तो प्रसन्न होकर परम भक्ति से एकचित्त होकर आहार दान दे रहे थे और स्वयं को धन्य मान रहे थे— अहो, रत्नत्रयधारी मुनिराज मेरे आँगन में आये हैं। इनकी सेवा से मेरा जीवन सफल हो गया ।''

इतने में मुनिराज के पेट में अचानक गड़बड़ी हुई और उनको एकाएक उलटी हुई । वह दुर्गन्ध भरी उलटी राजा-रानी के शरीर पर जा गिरी । अचानक दुर्गन्ध भरी उलटी उनके शरीर पर गिरने से राजा-रानी को किंचित् भी ग्लानि नहीं हुई और मुनिराज के प्रति जरा भी घृणा नहीं आई, बल्कि अत्यन्त सावधानी पूर्वक वे मुनिराज के दुर्गन्धमय शरीर को साफ करने लगे और उनके मन में ऐसा विचार आया—''अरे रे! हमारे आहार दान में अवश्य कोई भूल हुई होगी, जिस कारण से मुनिराज को इतना कष्ट हुआ.... मुनिराज की पूर्ण सेवा हम से नहीं हो सकी ।''

यहाँ तो राजा ऐसा विचार कर ही रहे थे कि वे मुनि अकस्मात् अदृश्य हो गये और उनके स्थान पर एक देव दिखने लगा । अत्यन्त प्रशंसा पूर्वक वह कहने लगा— ''हे राजन् ! धन्य है आपके सम्यक्त्व को और धन्य है आपके निर्विचिकित्सा अंग को । इन्द्र महाराज ने

आपके गुणों की बहुत प्रशंसा की थी, वह तो एक ही गुण से ध्यान में आ गई । मुनि का वेष धारण करके मैं ही आपकी परीक्षा करने आया था । धन्य है आपके गुणों को........'' ऐसा कहकर देव ने उन्हें नमस्कार किया ।

वास्तव में किसी मुनिराज को कष्ट नहीं पहुँचा— ऐसा जानकर राजा का चित्त प्रसन्न हो गया और वे कहने लगे—''हे देव ! यह मनुष्य शरीर तो स्वभाव से ही मलिन है और रोगों का घर है । यह अचेतन शरीर मलिन हो तो भी उसमें आत्मा का क्या? धर्मी का आत्मा तो सम्यक्त्वादि पवित्र गुणों से ही शोभित होता है । शरीर की मलिनता देख कर धर्मात्मा के गुणों के प्रति जो ग्लानि करते हैं, उन्हें आत्मा की दृष्टि नहीं होती, परन्तु देह की दृष्टि होती है । अरे, चमड़े के शरीर से ढका हुआ आत्मा अन्दर सम्यग्दर्शन के प्रभाव से शोभायमान हो रहा है, वह प्रशंसनीय है ।''

राजा उद्दायन की यह उत्तम बात सुनकर वह देव बहुत प्रसन्न हुआ और उसने राजा को अनेक विद्यायें दी, वस्त्राभूषण दिये, परन्तु उद्दायन राजा को उनकी आकांक्षा कहाँ थी? वे तो सम्पूर्ण परिग्रह छोड़ कर वर्द्धमान भगवान के समवशरण में गये और वहाँ उन्होंने दिगम्बर दीक्षा धारण कर केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष पाया । अहो! सम्यग्दर्शन के प्रताप से वे रत्नत्रय की साधना पूर्ण कर सिद्ध हुए, उन्हें हमारा नमस्कार हो । [ **यह छोटी-सी कहानी हमें इतना बड़ा बोध देती है कि धर्मात्माओं के शरीरादि को अशुचि देखकर भी उनके प्रति घृणा नहीं करें, उनके सम्यक्त्वादि पवित्र गुणों का बहुमान करें।**

**जो बगुले के समान ध्यान करनेवाले ऊपर से धर्मात्मा नजर आते हैं, वे परीक्षा करने पर असफल हो जाते हैं । सच्चे ज्ञानियों का समागम मिलना तो कल्पवृक्ष के समान दुर्लभ एवं सुखदायी है । सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का बाह्य आचरण कभी-कभी समान भी नजर आता है, लेकिन समय आने पर भेद प्रगट हुए बिना नहीं रहता।**]

o

## 4

## अमूढ़दृष्टि अंग में प्रसिद्ध रेवती रानी की कहानी

**दु:खकारक हैं कुपथ-कुपंथी, इन्हें मानना नहिं मन से ।**
**करना नहीं सम्पर्क सत्कृती, यश गाना नहिं वचनों से ।।**
**चौथा अंग 'अमूढ़दृष्टि' यह, जग में अतिशय सुखकारी ।**
**इसको धार 'रेवती रानी', ख्यात हुई जग में भारी ।।**

इस भरत क्षेत्र के मध्य में विजयार्ध पर्वत है । उस पर विद्याधर मनुष्य रहते हैं । उन विद्याधरों के राजा चन्द्रप्रभ का चित्त संसार से विरक्त हुआ और वे राज्य का कार्य-भार अपने पुत्र को सौंप कर तीर्थ यात्रा करने निकल पड़े । वे कुछ समय दक्षिण देश में रहे । दक्षिण देश के प्रसिद्ध तीर्थों के और रत्नों के जिनबिम्बों का दर्शन करके उन्हें बहुत आनन्द हुआ । दक्षिण देश में उस समय गुप्ताचार्य नाम के महान मुनिराज विराजमान थे । वे विशेष ज्ञान के धारक थे और मोक्षमार्ग का उत्तम उपदेश देते थे । चन्द्र राजा ने कुछ दिन वहाँ मुनिराज का उपदेश सुना और भक्ति पूर्वक उनकी सेवा की ।

तत्पश्चात् उन्होंने मथुरा नगरी की यात्रा पर जाने का विचार किया, क्योंकि वहाँ से जम्बूमस्वामी ने मोक्ष पाया था और वर्तमान में अनेक मुनिराज वहाँ विराजमान थे । उनमें भव्यसेन नाम के एक मुनि बहुत ही प्रसिद्ध थे । उस समय मथुरा में वरुण राजा राज्य करते थे । उनकी रानी का नाम था रेवती ।

चन्द्र राजा ने मथुरा जाने की अपनी इच्छा गुप्ताचार्य के सामने प्रगट की और आज्ञा माँगी तथा वहाँ विद्यमान संघ के लिए कोई सन्देश देने के सम्बन्ध में पूछा ।

उस पर श्री आचार्यदेव ने सम्यक्त्व की दृढ़ता का उपदेश देते हुए कहा—"आत्मा का सच्चा स्वरूप समझने वाला जीव वीतराग अरहन्त देव के अलावा किसी को भी देव नहीं मानता है । जो देव नहीं है, उसे देव मानना देवमूढ़ता है—ऐसी मूढ़ता धर्मी को नहीं होती।

मिथ्यामत के देवादिक बाहर से देखने में कितने भी सुन्दर दिखते हों, ब्रह्मा, विष्णु या शंकर, भले कोई भी हों परन्तु धर्मी जीव उनके प्रति आकर्षित नहीं होते ।

मथुरा की राजरानी रेवतीदेवी अभी सम्यक्त्व की धारक हैं, जिनधर्म की श्रद्धा में वह बहुत ही दृढ़ हैं, उन्हें धर्मवृद्धि का आशीर्वाद कहना तथा वहाँ विराजमान सुरत मुनि को, जिनका चित्त रत्नत्रय में रत है– उन्हें वात्सल्य पूर्वक नमस्कार कहना ।''

इस प्रकार आचार्यदेव ने सुरत मुनिराज को तथा रेवती रानी के लिए सन्देश कहा, परन्तु भव्यसेन मुनि को तो याद भी नहीं किया। इस पर राजा को बहुत आश्चर्य हुआ, फिर भी आचार्य महाराज को याद दिलाने के उद्देश्य से पूछा–''क्या दूसरे किसी को कुछ कहना है?''

परन्तु आचार्यदेव ने इस पर विशेष कुछ नहीं कहा । इससे चन्द्र राजा को ऐसा लगा–''क्या आचार्यदेव भव्यसेन मुनि को भूल गये हैं?.......नहीं, नहीं, वे तो भूलेंगे नहीं, वे तो विशेष ज्ञान के धारक हैं, इसलिए उनकी इस आज्ञा में अवश्य कोई रहस्य होगा। ठीक है, जो होगा वह प्रत्यक्ष दिखेगा ।''

मन ही मन में ऐसा समाधान करके चन्द्र राजा ने आचार्यदेव के चरणों में नमस्कार किया और वे मथुरा की तरफ निकल पड़े।

मथुरा में आते ही प्रथम उन्होंने सुरत मुनिराज के दर्शन किए। वे बहुत ही शान्त और शुद्ध रत्नत्रय का पालन करने वाले थे। चन्द्र राजा ने उन्हें नमस्कार किया और उन्हें गुप्ताचार्य का सन्देश कहा।

चन्द्र राजा की बात सुनकर सुरत मुनिराज ने प्रसन्नता व्यक्त की और स्वयं भी विनय पूर्वक हाथ जोड़ कर श्री गुप्ताचार्य के प्रति परोक्ष नमस्कार किया।

मुनिवरों का एक-दूसरे के प्रति ऐसा वात्सल्य भाव देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। सुरत मुनिराज ने कहा– "हे वत्स! वात्सल्य से धर्म शोभता है। उन रत्नत्रय के धारक आचार्यदेव को, जिन्होंने इतने दूर से साधर्मी के रूप में मुझे याद किया। शास्त्र में सच ही कहा है

**ये कुर्वन्ति सुवात्सल्यं भव्या धर्मानुरागतः।**
**सधर्मिकेषु तेषां हि सफलं जन्म भूतले।।**

**अर्थ–** अहो! जो भव्यजीव धर्म से प्रीति होने के कारण साधर्मी जनों के प्रति वात्सल्य करते हैं, उनका जन्म जगत में सफल है।"

प्रसन्नचित्त से भाव पूर्वक बारम्बार मुनिराज को नमस्कार करके राजा वहाँ से निकले और भव्यसेन मुनिराज के पास आये।.......उन्हें बहुत शास्त्र ज्ञान था और लोगों में वे बहुत प्रसिद्ध थे। राजा उनके साथ थोड़े समय रहे, परन्तु उन मुनिराज ने न तो आचार्य संघ का कोई समाचार पूछा और न कोई उत्तम धर्म चर्चा की। मुनि के योग्य आचार-व्यवहार भी उनका नहीं था। यद्यपि वे शास्त्र पढ़ते थे, फिर भी शास्त्रानुसार उनका आचरण नहीं था। मुनि को नहीं करने योग्य प्रवृत्ति वे करते थे। यह सब अपनी आँखों से देख कर राजा की समझ में आ गया– "ये भव्यसेन मुनि चाहे जितने प्रसिद्ध हों, परन्तु वे सच्चे मुनि नहीं हैं तो फिर गुप्ताचार्य उन्हें क्यों याद करेंगे? सच में, उन चतुर आचार्य भगवान ने योग्य ही किया।"

इस प्रकार चन्द्र राजा ने सुरत मुनि और भव्यसेन मुनि की स्वयं आँखों से देखकर परीक्षा की। रेवती रानी को भी आचार्य महाराज

ने धर्मवृद्धि का आशीर्वाद कहा है, इसलिए इनकी भी परीक्षा करनी चाहिये– ऐसा राजा के मन में विचार आया ।

अगले दिन मथुरा नगरी के उद्यान में अकस्मात् साक्षात् ब्रह्मा प्रगट हुए । इस सृष्टि के कर्त्ता ब्रह्माजी साक्षात् आये हैं...... वे कह रहे हैं– "मैं इस सृष्टि का कर्त्ता हूँ और दर्शन देने के लिए आया हूँ ।" यह बात नगर जनों में फैल गई । नगर जनों की टोलियाँ उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ीं और उन्हें गाँव में लाने की चर्चा हुई ।

मूढ़ लोगों का तो क्या कहना? बहु-भाग लोग इन ब्रह्माजी के दर्शन करने आये। प्रसिद्ध भव्यसेन मुनि भी कुतुहल वश उस जगह आये। यदि कोई नहीं गये थे तो वे सिर्फ सुरत मुनि और सिर्फ रेवतीरानी।

जैसे ही राजा ने साक्षात् ब्रह्मा की बात की, वैसे ही महारानी रेवती ने नि:शंकपने कहा–"महाराज! ये कोई ब्रह्मा हो ही नहीं सकते, किसी मायाचारी ने इन्द्रजाल खड़ा किया है, क्योंकि कोई ब्रह्मा या कोई इस सृष्टि का कर्त्ता है ही नहीं । साक्षात् ब्रह्मा तो अपना ज्ञानस्वरूप आत्मा है अथवा भरतक्षेत्र में भगवान ऋषभदेव ने मोक्षमार्ग की रचना की, इसलिए उन्हें आदि ब्रह्मा कहते हैं । इनके अतिरिक्त दूसरा कोई ब्रह्मा है ही नहीं, कि जिसे मैं वन्दन करूँ ।"

दूसरे दिन मथुरा नगरी में एक अन्य दरवाजे से नागशय्या पर विराजमान विष्णु भगवान प्रगट हुए, जिन्होंने अनेक अलंकार पहने हुए थे और उनके चारों हाथों में शस्त्र थे । लोगों में फिर हलचल मच गई । लोग बिना कोई विचार किये पुन: उस तरफ भागे। वे कहने लगे–"अहा! मथुरा नगरी का महाभाग्य खुल गया है, कल साक्षात् ब्रह्मा ने दर्शन दिये और आज विष्णु भगवान पधारे हैं ।"

राजा को ऐसा लगा कि आज तो रानी अवश्य जायेगी, इसलिए उन्होंने स्वयं रानी से बात की, परन्तु रेवती जिसका नाम था, जो वीतराग देव के शरण में ही समर्पित थी, उसका मन जरा भी डिगा नहीं ।

"श्रीकृष्ण आदि नौ विष्णु (वासुदेव) होते हैं और वे तो चौथे काल में हो चुके, दसवाँ विष्णु या नारायण होता नहीं। इसलिए अवश्य ये सब बनावटी हैं, क्योंकि जिनवाणी मिथ्या नहीं होती।" इस प्रकार जिनवाणी की दृढ़ श्रद्धा पूर्वक अमूढ़दृष्टि अंग से वह जरा भी विचलित नहीं हुई।

तीसरे दिन वहाँ एक नई बात हुई। ब्रह्मा और विष्णु के बाद आज तो पार्वती सहित जटाधारी महादेव शंकर प्रगटे। गाँव के बहुत लोग उनके दर्शन करने चल दिये, कोई भक्ति से गया तो कोई कौतुहल से गया, परन्तु जिसके रोम-रोम में वीतराग देव बसे हैं– ऐसी रेवती रानी पर तो कुछ भी असर नहीं हुआ, उसे कोई आश्चर्य भी नहीं हुआ, उल्टे उसे तो लोगों पर दया आई। रेवती रानी सोचने लगीं– "अरे रे ! परम वीतराग सर्वज्ञ देव, मोक्षमार्ग को दिखाने वाले भगवान को भूल कर मूढ़ता से लोग इन्द्रजाल में कैसे फँस रहे हैं ! सच में, भगवान अरहन्त देव का मार्ग प्राप्त होना जीवों को बहुत दुर्लभ है।"

अहो आश्चर्य! अब चौथे दिन तो मथुरा के विशाल प्रांगण में साक्षात् तीर्थंकर भगवान प्रगट हुए...... अद्भुत समवसरण की रचना, गंधकुटी जैसा दृश्य और उसमें चतुर्मुख सहित विराजमान तीर्थंकर भगवान लोग फिर दर्शन करने दौड़े।

राजा ने सोचा– इस बार तो तीर्थंकर भगवान आये हैं, इसलिए रेवती रानी अवश्य जायेगी। परन्तु रेवती रानी ने कहा–"हे महाराज! अभी इस पंचम काल में तीर्थंकर कैसे? भगवान ने इस भरत क्षेत्र में एक काल खण्ड में चौबीस तीर्थंकर होने का ही विधान कहा है और वे ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर मोक्ष चले गये हैं। यह पच्चीसवाँ तीर्थंकर कैसा? यह तो कोई कपटी का मायाजाल है। मूढ़ लोग देव के स्वरूप का विचार किये बिना ही एक के पीछे एक दौड़े चले जा रहें हैं।"

बस, परीक्षा हो चुकी। विद्याधर राजा को निश्चय हो गया कि रेवती रानी की जो प्रशंसा श्री गुप्ताचार्य ने की थी, वह यथार्थ ही है। यह तो सम्यक्त्व के सर्व अंगों से शोभायमान है।

क्या पवन से कभी मेरु पर्वत हिलता है? नहीं, उस सम्यग्दर्शन में मेरु जैसा अकम्प सम्यग्दृष्टि जीव कुधर्म रूपी पवन से जरा भी डिगता नहीं, देव-गुरु-धर्म सम्बन्धी मूढ़ता उसे होती नहीं, उनकी उचित पहिचान करके सच्चे वीतरागी देव-गुरु-धर्म को ही वह नमन करता है।

रेवती रानी की ऐसी दृढ़ धर्म-श्रद्धा देखकर विद्याधर राजा चन्द्रप्रभ को बहुत प्रसन्नता हुई, तब अपने असली स्वरूप में प्रगट होकर उसने कहा– "हे माता! क्षमा करो । चार दिन से इन ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, शंकर इत्यादि का इन्द्रजाल मैंने ही खड़ा किया था। पूज्य श्री गुप्ताचार्य महाराज ने आपके सम्यक्त्व की प्रशंसा की थी, इसलिए आपकी परीक्षा करने के लिए ही मैंने यह सब किया था । अहा ! धन्य है आपके श्रद्धान को, धन्य है आपके अमूढ़दृष्टि अंग को। हे माता ! आपके सम्यक्त्व की प्रशंसा पूर्वक श्री गुप्ताचार्य महाराज ने अपके लिए धर्मवृद्धि का आशीर्वाद भेजा है ।"

अहो! मुनिराज के आशीर्वाद की बात सुनते ही रेवती रानी को अपार हर्ष हुआ.... हर्ष से गद्‌गद् होकर उन्होंने यह आशीर्वाद स्वीकार किया और जिस दिशा में मुनिराज विराजित थे, उस तरफ सात पाँव चल कर मस्तक नवाँ कर उन मुनिराज को परोक्ष नमस्कार किया । विद्याधर राजा ने रेवती माता का बहुत सम्मान किया और उनकी प्रशंसा करके सम्पूर्ण मथुरा नगरी में उनकी महिमा फैला दी । राजमाता की ऐसी दृढ़ श्रद्धा और जिनमार्ग की ऐसी महिमा देख कर मथुरा नगरी के कितने ही जीव कुमार्ग छोड़ कर जिनधर्म के भक्त बन गये और बहुत से जीवों की श्रद्धा दृढ़ हो गई । इस प्रकार जैनधर्म की महान प्रभावना हुई !

**[भाइयो, यह कहानी यह बताती है कि वीतराग परमात्मा अरहन्त देव का सच्चा स्वरूप पहचान कर उनके अलावा अन्य दूसरे किसी भी देव को– भले ही साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु, शंकर दिखाई दें, नमस्कार नहीं करे । जिन वचन के विरुद्ध किसी बात को माने नहीं । भले सारा जगत कुछ भी माने और तुम अकेले पड़ जाओ, तो भी जिनमार्ग की श्रद्धा नहीं छोड़ना चाहिये।]** ०

# 5

## उपगूहन अंग में प्रसिद्ध जिनभक्त सेठ की कहानी

**स्वयं शुद्ध जो सत्यमार्ग है, उत्तम सुख देने वाला।**
**अज्ञानी असमर्थ मनुज-कृत, उसकी हो निन्दा माला।।**
**उसे तोड़ कर दूर फेंकना, 'उपगूहन' है पंचम अंग।**
**इसे पाल निर्मल यश पाया, सेठ 'जिनेन्द्रभक्त' सुख अंग।।**

पादलिप्त नगर में एक सेठ रहता था, वह महान जिनभक्त था, सम्यक्त्व का धारक था और धर्मात्माओं के गुणों की वृद्धि तथा दोषों का उपगूहन करने के लिए प्रसिद्ध था। पुण्य-प्रताप से वह बहुत वैभव-सम्पन्न था, उसका सात मंजिला महल था। वहाँ सबसे ऊपर के भाग में उसने एक अद्‌भुत चैत्यालय बनाया था। उसमें बहुमूल्य रत्न से बनाई हुई भगवान पार्श्वनाथ की मनोहर मूर्ति थी, उसके ऊपर रत्न जड़ित तीन छत्र थे, उनमें एक नीलम रत्न बहुत ही कीमती था, जो अन्धेरे में भी जगमगाता था।

उस समय सौराष्ट्र के पाटलीपुत्र नगर का राजकुमार सुवीर कुसंगति में दुराचारी तथा चोर हो गया था। वह एक बार सेठ के जिन-मन्दिर में गया। वहाँ उसका मन ललचाया– भगवान की भक्ति के कारण नहीं, बल्कि कीमती नीलम रत्न की चोरी करने के भाव से।

उसने चोरों की सभा में घोषणा की– "जो कोई उस जिनभक्त सेठ के महल से कीमती नीलम रत्न लेकर आयेगा, उसे बड़ा इनाम मिलेगा।"

सूर्य नामक एक चोर उसके लिए तैयार हो गया, उसने कहा "अरे, इन्द्र के मुकुट में लगा हुआ रत्न भी मैं क्षण भर में लाकर दे सकता हूँ, तो यह कौनसी बड़ी बात है ?

लेकिन, महल से उस रत्न की चोरी करना कोई सरल बात

नहीं थी । वह चोर किसी भी तरह से वहाँ पहुँच नहीं पाया । इसलिए अन्त में एक त्यागी ब्रह्मचारी का कपटी वेश धारण करके वह उस सेठ के यहाँ पहुँचा । उस त्यागी बने चोर में वक्तृत्व की अच्छी कला थी। जिस किसी से वह बात करता, उसे अपनी तरफ आकर्षित कर लेता, उसी तरह व्रत-उपवास इत्यादि को दिखा-दिखा कर लोगों में उसने प्रसिद्धि भी पा ली, अतः उसे धर्मात्मा समझ कर जिनभक्त सेठ ने स्वयं चैत्यालय की देख-रेख का काम उसे सौंप दिया ।

सूर्य चोर तो उस नीलम मणि को देखते ही आनन्द विभोर हो गया......और विचार करने लगा— "कब मौका मिले और मैं कब इसे लेकर भागूँ ?"

इन्हीं दिनों, सेठ को बाहर गाँव जाना था । इसलिए उस बनावटी ब्रह्मचारी श्रावक से चैत्यालय संभालने के बारे में कह कर सेठ चले गये । जब रात होने लगी तो गाँव से थोड़ी दूर जाकर उन्होंने पड़ाव डाला ।

रात हो गई........ सूर्य चोर उठा...... नीलम मणि रत्न को जेब में रखा और भागने लगा, परन्तु नीलम मणि का प्रकाश छिपा नहीं, वह अन्धेरे में भी जगमगाता था । इससे चौकीदारों को शंका हुई और उसे पकड़ने के लिए वे उसके पीछे दौड़ पड़े ।

'अरे....... मन्दिर के नीलम मणि की चोरी करके चोर भाग रहा है...। पकड़ो.....पकड़ो.....पकड़ो ।" चारों ओर सिपाहियों ने हल्ला मचाया ।

इधर सूर्य चोर को भागने का कोई मार्ग नहीं रहा, इसलिए वह तो जहाँ जिनभक्त सेठ का पड़ाव था, वहीं पर घुस गया । चौकीदार चिल्लाते हुए चोर को पकड़ने के लिए पीछे से आये । सेठ सब कुछ समझ गया......"अरे! ये भाईसाहब चोर हैं, त्यागी नहीं ।"

"लेकिन त्यागी के रूप में प्रसिद्ध यह मनुष्य चोर है — ऐसा लोगों में प्रसिद्ध हुआ तो धर्म की बहुत निन्दा होगी" — ऐसा विचार

कर बुद्धिमान सेठ ने चौकीदारों को रोक कर कहा— "अरे तुम लोग यह क्या कर रहे हो? यह कोई चोर नहीं है, यह तो धर्मात्मा है । नीलम मणि लाने के लिए तो मैंने उसे कहा था, तुम गलती से इसे चोर समझ कर हैरान कर रहे हो ।"

सेठ की बात सुन कर सब लोग चुपचाप वापिस चले गये । इस तरह एक मूर्ख मनुष्य की भूल के कारण होने वाली धर्म की बदनामी बच गयी । इसे ही उपगूहन अंग कहते हैं । जैसे एक मेंढक के दूषित होने से सम्पूर्ण समुद्र गन्दा नहीं होता, उसी प्रकार कोई असमर्थ निर्बल मनुष्य के द्वारा छोटी-सी भूल हो जाने पर पवित्र जिनधर्म मलिन नहीं हो जाता ।

जिस तरह माता इच्छा करती है कि मेरा पुत्र उत्तम गुणवान हो, अतः वह पुत्र में कोई छोटा-बड़ा दोष देख कर उसे प्रसिद्ध नहीं करती, परन्तु ऐसा उपाय करती है कि उसके गुण की वृद्धि हो। उसी प्रकार धर्मात्मा भी धर्म में कोई अपवाद हो— ऐसा कार्य नहीं करते, परन्तु धर्म की प्रभावना हो, वही करते हैं ।

यदि कभी किसी गुणवान धर्मात्मा में कदाचित् दोष आ जाय तो उसे गौण करके उसके गुणों को मुख्य करते हैं और एकान्त में

बुला कर उसे प्रेम से समझाते हैं, जिससे उसका दोष दूर हो और धर्म की शोभा बढ़े ।

उसी प्रकार जब सभी लोग चले गये, तब बाद में जिनभक्त सेठ ने भी उस सूर्य नामक चोर को एकान्त में बुला कर उलाहना दिया और कहा—"भाई! ऐसा पाप कार्य तुम्हें शोभा नहीं देता । विचार तो कर कि तू यदि पकड़ा जाता तो तुझे कितना दु:ख भोगना पड़ता? तथा इससे जैनधर्म की भी कितनी बदनामी होती । लोग कहते कि जैनधर्म के त्यागी ब्रह्मचारी भी चोरी करते हैं । इसलिए इस धन्धे को तू छोड़ दे ।"

वह चोर भी सेठ के ऐसे उत्तम व्यवहार से प्रभावित हुआ और स्वयं के अपराध की माफी माँगते हुए उसने कहा —"सेठजी आपने ही मुझे बचाया है, आप जैनधर्म के सच्चे भक्त हो । लोगों के समक्ष आपने मुझे सज्जन धर्मात्मा कह कर पहचान करायी, अत: मैं भी चोरी छोड़ कर सच्चा धर्मात्मा बनने का प्रयत्न करूँगा । सच में जैनधर्म महान है और आपके जैसे सम्यग्दृष्टि जीवों को ही वह शोभा देता है ।"

इस प्रकार उस सेठ के उपगूहन गुण से धर्म की प्रभावना हुई।

**[ यह कहानी हमें यह सिखाती है कि साधर्मी के किसी दोष के कारण धर्म की निन्दा हो- ऐसा नहीं करना चाहिये । अपितु प्रेम पूर्वक समझा कर, उसे उस दोष से छुड़वा कर, धर्मात्माओं के गुणों को मुख्य करके, उसकी प्रशंसा द्वारा धर्म की वृद्धि हो- ऐसा करना चाहिए ।]**

*गुण-दोष का निर्णय तो विवेक ही करता ही। अत: श्रद्धा विवेकपूर्वक हो, तभी सार्थक एवं शुभफलदायी होती है। भाव-भासन बिना जो श्रद्धा होगी, वह अंधी ही होगी।*

**– सत्य की खोज, पृष्ठ ८१**

## 6

# स्थितिकरण अंग में प्रसिद्ध मुनिश्री वारिषेण की कहानी

**सद्दर्शन से, सदाचरण से, विचलित होते हैं जो जन।**
**धर्म-प्रेम वश उन्हें करें फिर, सुस्थिर देकर तन-मन-धन।।**
**'स्थितिकरण' नाम यह छट्ठा, अंग धर्म द्योतक प्रियवर।**
**'वारिषेण' श्रेणिक का बेटा, ख्यात हुआ चल कर इस पर।।**

भगवान महावीर के समय में राजगृही नगरी में राजा श्रेणिक का राज्य था । उनकी महारानी चेलनादेवी और पुत्र वारिषेण था । राजकुमार वारिषेण की अत्यन्त सुन्दर ३२ रानियाँ थी । इतना होने पर भी वह वैरागी था और उसे आत्मा का ज्ञान था ।

राजकुमार वारिषेण एक समय उद्यान में ध्यान कर रहे थे। उधर से ही विद्युत नामक चोर एक कीमती हार की चोरी करके भाग रहा था । उसके पीछे सिपाही लगे थे । पकड़े जाने के भय से हार को वारिषेण के पैर के पास फेंक कर वह चोर एक तरफ छिप गया। इधर राजकुमार को ही चोर समझ कर राजा ने उसे फाँसी की सजा सुना दी, परन्तु जैसे ही जल्लाद ने उस पर तलवार चलाई, वैसे ही वह वारिषेण के गले में तलवार के बदले फूल की माला बन गई। ऐसा होने पर भी राजकुमार वारिषेण तो मौन ध्यान में मग्न थे।

ऐसा चमत्कार देख कर चोर को पश्चात्ताप हुआ । उसने राजा से कहा— "असली चोर तो मैं हूँ, यह राजकुमार निर्दोष है ।"

यह बात सुन कर राजा ने राजकुमार से क्षमा माँगी और उसे राजमहल में चलने को कहा, परन्तु इस घटना से राजकुमार वारिषेण के वैराग्य में वृद्धि हुई और दृढ़ता पूर्वक उन्होंने कहा— "पिताजी यह संसार असार है, अब बस होओ । राज-पाट में मेरा चित्त नहीं लगता, मेरा चित्त तो एक चैतन्य स्वरूप आत्मा को साधने में ही लग रहा है । इसलिए अब तो मैं दीक्षा लेकर मुनि बनूँगा ।"

ऐसा कह कर वे तुरन्त ही जंगल में आचार्य भगवन्त के पास गये और उन्होंने दीक्षा ले ली......और वे आत्मा को साधने लगे।

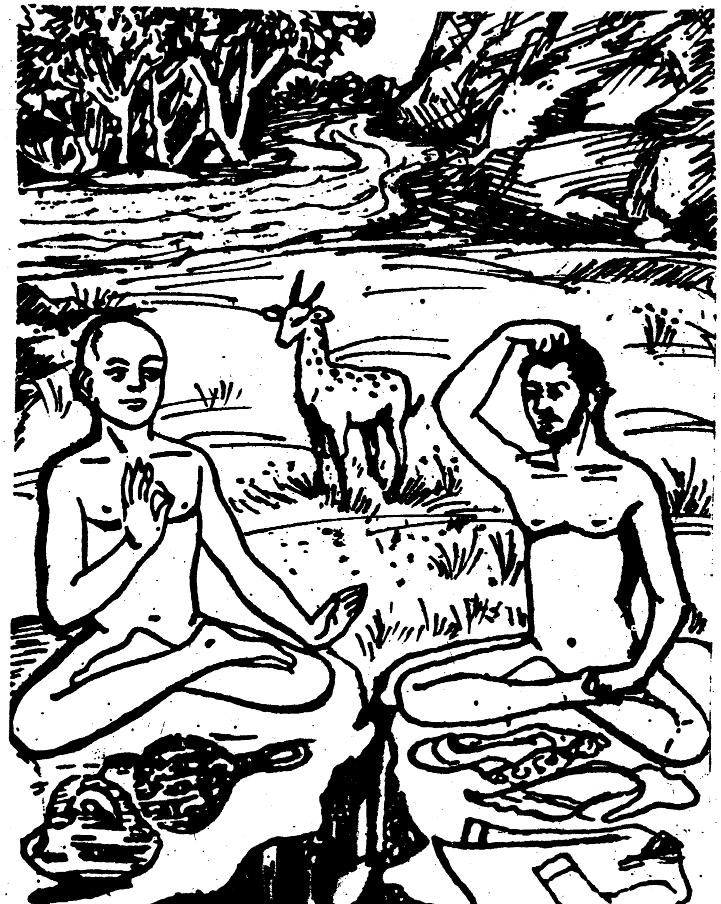

राज्य के मन्त्री का पुत्र जिसका नाम पुष्पडाल था, बालपने से ही वारिषेण का मित्र था । उसकी शादी अभी-अभी हुई थी । एक बार वारिषेण मुनि विहार करते-करते पुष्पडाल के गाँव पहुँचे । पुष्पडाल ने उन्हें विधि पूर्वक आहारदान दिया । इस समय अपने पूर्व के मित्र को धर्म-बोध देने की भावना उन मुनिराज को उत्पन्न हुई ।

आहार के पश्चात् मुनिराज वन की ओर जाने लगे । विनय से पुष्पडाल भी उनके पीछे-पीछे चलने लगा । कुछ समय चलने पर

पुष्पडाल के मन में विचार आया कि गाँव तो अब पीछे छूट गया है और वन भी आ गया है । मुनिराज मुझे रुकने को कहेंगे तो मैं अपने घर वापस चला जाऊँगा, परन्तु मुनि महाराज आगे बढ़े ही जा रहे थे.... मित्र को वापिस जाने को उन्होंने कहा ही नहीं ।

पुष्पडाल को घर जाने की आकुलता होने लगी । उसने मुनिराज को याद दिलाने के लिए कहा— " हे महाराज! जब हम छोटे थे, तब इस तालाब पर आते थे और आम के पेड़ के नीचे साथ-साथ खेलते थे, यह पेड़ गाँव से दो-तीन मील दूरी पर है ......हम गाँव से बहुत दूर आ गये हैं ।"

यह सुन कर भी वारिषेण मुनि ने उसे वापस जाने को नहीं कहा । अहो, परम हितैषी मुनिराज मोक्ष का मार्ग छोड़ कर संसार में जाने को क्यों कहेंगे ? उन्हें लग रहा था कि मेरा मित्र भी मोक्ष के मार्ग में मेरे साथ चले । मानों वे मन ही मन अपने मित्र से कह रहे हों— **हे मित्र ! चल..... मेरे साथ मोक्ष में,**

**छोड़ परभाव को..... झूल आनन्द में।**
**हमें जाना है मोक्ष में..... सुख के धाम में,**
**चल मेरे भाई.... अब तू मैं साथ में।।**

अहा ! मानो अपने पीछे-पीछे चलने वाले को मोक्ष में ही ले जा रहे हों— ऐसी परम निस्पृहता से मुनि तो आगे ही चल रहे थे। पुष्पडाल भी शर्म के मारे उनके पीछे-पीछे चल रहा था ।

अन्त में वे आचार्य महाराज के पास आ पहुँचे । वारिषेण मुनि ने उनसे कहा — "प्रभो ! यह मेरा पूर्व का मित्र है और संसार से विरक्त होकर आपके पास दीक्षा लेने आया है।"

आचार्य महाराज ने उसे निकट भव्य जान कर दीक्षा दे दी। अहा, सच्चा मित्र तो वही है, जो जीव को भव-समुद्र से बचाये।

अब, मित्र के अनुग्रह वश पुष्पडाल भी मुनि हो गये थे और बाहर में मुनि के योग्य क्रिया करने लग गये थे, परन्तु उनका चित्त अभी संसार से छूटा नहीं था । भाव-मुनिपना अभी उन्हें हुआ नहीं था । प्रत्येक

क्रिया करते समय उन्हें अपने घर की याद आती थी, सामायिक करते समय उन्हें बारम्बार पत्नि का स्मरण होता रहता था ।

वारिषेण मुनि उनके मन को स्थिर करने के लिए उनके साथ में ही रह कर उन्हें बारम्बार उत्तम ज्ञान-वैराग्य का उपदेश देते थे, परन्तु अभी उनका मन धर्म में स्थिर हुआ नहीं था ।

ऐसा करते-करते बारह वर्ष बीत गये । एकबार वे दोनों मुनि भगवान महावीर के समवशरण में बैठे थे । वहाँ इन्द्र प्रभु की स्तुति करते हुए कहते हैं — "हे नाथ ! यह राजभूमि अनाथ होकर आप के विरह में रो रही है और उसके आँसू नदी के रूप में बह रहे हैं।"

अहा ! इन्द्र ने तो भगवान के वैराग्य की स्तुति की, परन्तु जिसका चित्त अभी वैराग्य में पूरी तरह लगा नहीं था— ऐसे पुष्पडाल मुनि को तो यह बात सुन कर ऐसा लगा— "अरे ! मेरी पत्नी भी इस भूमि की तरह बारह वर्ष से मेरे बिना रो रही होगी और दुःखी हो रही होगी । मैंने बारह वर्ष से उसका मुँह तक देखा नहीं, मुझे भी उसके बिना चैन पड़ता नहीं । इसलिए अब तो चल कर उससे बात कर आयेंगे । थोड़े समय उसके साथ रह कर बाद में फिर से दीक्षा ले लेंगे ।"

—ऐसा विचार करके पुष्पडाल तो किसी को कहे बिना ही घर की तरफ जाने लगे । वारिषेण मुनि उनकी चेष्टा समझ गये। उनके हृदय में मित्र के प्रति धर्म-वात्सल्य जागा और किसी भी तरह उनको धर्म में स्थिर करना चाहिये— ऐसा विचार करके उनके साथ चलने लगे और पहले राजमहल की ओर गये।

पूर्व मित्र सहित मुनि बने राजकुमार को महल की तरफ आते हुए देख कर चेलना रानी को आश्चर्य हुआ अरे, क्या वारिषेण मुनिदशा का पालन नहीं कर सके, इसलिए लौटकर आ रहे हैं ? —ऐसा उन्हें सन्देह हुआ । उनकी परीक्षा के लिए उन्होंने एक लकड़े का आसन और दूसरा सोने का आसन रख दिया, परन्तु वैरागी वारिषेण मुनि तो वैराग्य पूर्वक लकड़े के आसन पर ही बैठे, और इससे चतुर

चेलनादेवी समझ गई कि राजकुमार का मन तो वैराग्य में दृढ़ है, अत: उनके आगमन में दूसरा ही कोई हेतु होना चाहिये ।

वारिषेण मुनि के आते ही उनके गृहस्थाश्रम की बत्तीस रानियाँ भी दर्शन के लिए आईं । राजमहल के अद्भुत वैभव को और अत्यन्त सुन्दर ३२ रूप-यौवनाओं को देख कर पुष्पडाल को आश्चर्य हुआ, वे मन ही मन में सोचने लगे —"अरे ! ऐसा राजवैभव और ऐसी रूपवती ३२ रानियाँ होने पर भी यह राजकुमार उनके सामने भी नहीं जाता, उनको छोड़ने के बाद उन्हें याद भी नहीं करता और आत्मा को ही साधने में यह अपना चित्त लगाये रखता है । वाह, धन्य है यह ! और मैं तो एक साधारण स्त्री का मोह भी मन से छोड़ नहीं सका । अरे रे, बारह वर्ष का मेरा साधुपना बेकार चला गया ।"

तब वारिषेण मुनि ने पुष्पडाल से कहा — "हे मित्र ! अब भी यदि तुम्हें संसार का मोह हो तो तुम यहीं रह जाओ ! इस सारे वैभव को भोगो ! अनादि काल से जिस संसार के भोगने पर भी तृप्ति नहीं हुई, अब भी तुम उसे भोगना चाहते हो तो लो, यह सब तुम भोगो !"

वारिषेण की बात सुन कर पुष्पडाल मुनि अत्यन्त शर्मिन्दा हुये, उनकी आँखें खुल गईं, उनका आत्मा जाग उठा ।

राजमाता चेलना भी अब सब कुछ समझ गई और धर्म में स्थिर करने के लिए उन्होंने पुष्पडाल से कहा— "अहो मुनिराज !

आत्मा के धर्म को साधने का ऐसा अवसर बारम्बार नहीं मिलता। इसलिए अपना चित्त मोक्षमार्ग में लगाओ। यह संसार तो अनन्तबार भोग चुके हो, उसमें किंचित् भी सुख नहीं है..... इसलिए उससे ममत्व छोड़ कर मुनिधर्म में अपना चित्त स्थिर करो।'' वारिषेण मुनिराज ने भी ज्ञान-वैराग्य का बहुत उपदेश दिया......''हे मित्र, अब तुम अपने चित्त को आत्मा की आराधना में स्थिर करो और मेरे साथ मोक्षमार्ग में चलो।'' तब पुष्पडाल ने सच्चे हृदय से कहा– ''प्रभो ! आपने मुझे जिनधर्म से पतित होने से बचा लिया है और सच्चा उपदेश देकर मुझे मोक्षमार्ग में स्थिर किया है। सच्चे मित्र आप ही हो। आपने धर्म में मेरा स्थितिकरण करके महान उपकार किया है। अब मेरा मन संसार से और इन भोगों से सच में उदासीन हो गया है और आत्मा के रत्नत्रय धर्म की आराधना में स्थिर हो गया है। स्वप्न में भी अब इस संसार की इच्छा नहीं रही, अब तो मैं भी आपकी तरह अन्तर में लीन होकर आत्मा के चैतन्य-वैभव को साधूँगा।''

इस प्रकार पश्चाताप करके पुष्पडाल फिर से मुनिधर्म में स्थिर हो गये और दोनों मुनिवर वन की तरफ चल दिये।

**[ वारिषेण मुनिराज की यह कहानी हमें यह सिखाती है कि कोई भी साधर्मी धर्मात्मा कदाचित् शिथिल होकर धर्ममार्ग से डिगता हो तो उसका तिरस्कार नहीं करना, अपितु प्रीति पूर्वक उसे धर्ममार्ग में स्थिर करना चाहिये। उसकी सर्व प्रकार से सहायता करके, धर्म में उत्साह बढ़ा कर, जैनधर्म की परम महिमा समझा कर, वैराग्यपूर्ण सम्बोधन से किसी भी प्रकार से – धर्म में स्थिर करना चाहिये। उसी प्रकार स्वयं अपने आत्मा को भी धर्म में स्थिर करके, चाहे जितनी भी प्रतिकूलता हो, फिर भी धर्म से थोड़ा भी डिगना नहीं चाहिये।**

**स्थितिकरण अंग के धारक सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा स्व या पर को सन्मार्ग से शिथिल होता जानकर उसका स्थितिकरण करते हैं। रत्नत्रय की साधना में अपने आत्मा को या पर के आत्मा को स्थिर करना ही वास्तव में सम्यक्त्व का स्थितिकरण अंग है।]** ०

## 7

# वात्सल्य अंग में प्रसिद्ध मुनिश्री विष्णुकुमार की कहानी

**कपटरहित हो श्रेष्ठ भाव से, यथायोग्य आदर सत्कार।**
**करना अपने सधर्मियों का, सप्तमांग 'वात्सल्य' विचार।।**
**इसे पाल कर पाई प्रसिद्धि , मुनिवर श्रीयुत 'विष्णुकुमार'।**
**जिनका यश शास्त्रों के भीतर, गाया निर्मल अपरम्पार।।**

लाखों वर्ष पहले भगवान श्री मुनिसुव्रत तीर्थंकर के समय की यह कहानी है । उज्जैन नगरी में उस समय राजा श्रीवर्मा राज्य करता था, उनके बलि इत्यादि चार मन्त्री थे । वे नास्तिक थे, उन्हें सच्चे धर्म की श्रद्धा नहीं थी ।

एक बार उस उज्जैन नगरी में सात सौ मुनियों के संघ सहित आचार्य श्री अकम्पन का आगमन हुआ । सभी नगरजन हर्ष से मुनिवरों के दर्शन करने गये । राजा की भी उनके दर्शन करने की इच्छा हुई और उन्होंने मन्त्रियों को भी साथ में चलने को कहा । यद्यपि इन बलि आदि मिथ्यादृष्टि मन्त्रियों की तो जैन मुनियों पर श्रद्धा नहीं थी, फिर भी राजा की आज्ञा से वे भी साथ में चले ।

राजा ने मुनिवरों को वन्दन किया, परन्तु ज्ञान-ध्यान में तल्लीन मुनिवर तो मौन ही थे । उन मुनियों की ऐसी शान्ति और निस्पृहता देख कर राजा बहुत प्रभावित हुआ, परन्तु मन्त्री दुष्ट भाव से कहने लगे— "महाराज ! इन जैन मुनियों को कोई ज्ञान नहीं है, इसलिए ये मौन रहने का ढोंग कर रहे हैं, क्योंकि **'मौनं मूर्खस्य लक्षणम्'** ।"

इस प्रकार निन्दा करते हुए वे वापस जा रहे थे और उसी समय श्री श्रुतसागर नाम के मुनि सामने से आ रहे थे । उन्होंने मन्त्रियों की बात सुनली, उन्हें मुनिसंघ की निन्दा सहन नहीं हुई । इसलिए उन्होंने उन मन्त्रियों के साथ वाद-विवाद किया । रत्नत्रय धारक श्रुतसागर मुनिराज ने अनेकान्त सिद्धान्त के न्याय से मन्त्रियों की कुयुक्तियों का

खण्डन करके उन्हें चुप कर दिया। दूसरों के मौन की खिल्ली उड़ाने वाले खुद मौन की साधना करने लगे।

इस प्रकार राजा की उपस्थिति में हार जाने से मन्त्रियों को अपना अपमान लगा। अपमान से क्रोधित होकर वे पापी मन्त्री रात्रि में मुनिराज को मारने के लिए गये।

और उन्होंने ध्यान में खड़े मुनिराज के ऊपर तलवार उठा कर जैसे ही उन्हें मारने का प्रयत्न किया, वैसे ही अकस्मात् उनका हाथ खड़ा ही रह गया। कुदरत ऐसी हिंसा देख नहीं सकी। तलवार उठाये हुए हाथ वैसे के वैसे ही कीलित हो गये और उनके पैर भी जमीन के साथ ही चिपक गये।

सुबह होने पर लोगों ने यह दृश्य देखा और राजा को चारों ही मन्त्रियों की दुष्टता की खबर मिली। तब राजा ने उनको गधे पर बैठा कर नगर के बाहर निकाल दिया। युद्ध कला में कुशल ऐसे वे बलि आदि मन्त्री भटकते-भटकते हस्तिनापुर नगरी पहुँचे और वहाँ राज दरबार में मन्त्री बन कर रहने लगे।

हस्तिनापुर भगवान शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ - इन तीन तीर्थंकरों की जन्मभूमि है। यह कहानी जिस समय घटी, उस समय हस्तिनापुर में राजा पद्मराय राज्य करते थे। उनके एक भाई मुनि हो गये थे - उनका नाम था विष्णुकुमार। वे आत्मा के ज्ञान-ध्यान में मग्न रहते। उन्हें कुछ लब्धियाँ भी प्रगट हुई थी, परन्तु उनका उन पर ध्यान नहीं था। उनका ध्यान तो आत्मा की केवलज्ञान लब्धि साधने के ऊपर था।

सिंहस्थ नाम का एक राजा था, इस हस्तिनापुर के राजा का शत्रु था और उन्हें बारम्बार परेशान करता रहता था। पद्मराय उसे अभी तक जीत नहीं सका था। अन्त में बलि मन्त्री की युक्ति से पद्मराय ने उसे जीत लिया। इसलिए खुश होकर राजा ने बलि को मुँह माँगा वरदान माँगने को कहा, परन्तु बलि मन्त्री ने कहा - "हे राजन् जब आवश्यकता पड़ेगी, तब यह वरदान माँग लूँगा।"

इधर अकम्पन आदि सात सौ मुनि भी देश-विदेश विहार करते हुए भव्यजीवों को वीतराग धर्म समझाते हुए हस्तिनापुर नगरी पहुँचे। वहाँ अकम्पन इत्यादि मुनिवरों को देख कर बलि मन्त्री भय से काँप उठा। उसको डर लगा कि इन मुनियों के कारण हमारा उज्जैन का पाप अगर प्रगट हो गया तो यहाँ का राजा भी हमारा अपमान करके हमें यहाँ से निकाल देगा। क्रोधित होकर अपने वैर का बदला लेने के लिए वे चारों मन्त्री विचार करने लगे।

अन्त में उन पापियों ने सभी मुनियों को जान से मारने की एक दुष्ट योजना बनाई। *राजा से जो वचन माँगना बाकी था, वह उन्होंने माँग लिया।* उन्होंने कहा - "महाराज, हमें एक बहुत बड़ा यज्ञ करना है, इसलिए सात दिन के लिए आप राज्य हमें सौप दें।"

अपने वचन का पालन करके राजा ने उन्हें सात दिनों के लिये राज्य सौंप दिया और स्वयं राजमहल में जाकर रहने लगे।

बस, राज्य हाथ में आते ही उन दुष्ट मन्त्रियों ने 'नरबलि यज्ञ' करने की घोषणा की...... और जहाँ मुनिवर विराजे थे, वहाँ चारों ओर से हिंसा के लिए पशु और दुर्गन्धित हड्डियाँ, मांस, चमड़ी तथा लकड़ी के ढेर लगा दिये और उन्हें सुलगाने के लिए बड़ी आग जला दी । मुनियों के चारों ओर अग्नि की ज्वाला भड़की । मुनिवरों पर घोर उपसर्ग हुआ ।

लेकिन ये तो थे मोक्ष के साधक वीतरागी मुनि भगवन्त ! अग्नि की ज्वाला के बीच में भी वे मुनिराज तो शान्ति से आत्मा के वीतरागी अमृतरस का पान करते रहे । बाहर में भले अग्नि भड़की, परन्तु अपने अन्तर में उन्होंने क्रोधाग्नि जरा भी भड़कने नहीं दी । अग्नि की ज्वालायें धीरे-धीरे बढ़ने लगीं....... लोगों में चारों ओर हाहाकार मच गया । हस्तिनापुर के जैन संघ को अपार चिन्ता होने लगी । मुनिवरों का उपसर्ग जब तक दूर नहीं होगा, तब तक सभी श्रावकों ने खाना-पीना त्याग दिया ।

अरे, मोक्ष को साधने वाले सात सौ मुनियों के ऊपर ऐसा घोर उपसर्ग देखकर भूमि भी मानो फट गई.... आकाश में श्रवण नक्षत्र मानो काँप रहा हो । यह सब एक क्षुल्लकजी ने देखा और उनके मुंह से चीत्कार निकली । आचार्य महाराज ने भी निमित्त-ज्ञान से जान कर कहा— "अरे ! वहाँ हस्तिनापुर में सात सौ मुनियों के संघ के ऊपर बलि राजा घोर उपसर्ग कर रहा है और उन मुनिवरों का जीवन संकट में है ।"

क्षुल्लकजी ने पूछा— "प्रभो, इनको बचाने का कोई उपाय है ?"

आचार्य ने कहा—"हाँ, विष्णुकुमार मुनि उनका उपसर्ग दूर कर सकते हैं, क्योंकि उन्हें ऐसी विक्रिया लब्धि (ऋद्धि) प्रगट हुई है, जिससे वे अपने शरीर का आकार जितना छोटा या बड़ा करना चाहें, उतना

कर सकते हैं, परन्तु वे तो अपनी आत्म-साधना में ऐसे लीन हैं कि उन्हें अपनी लब्धि की भी खबर नहीं और मुनियों के ऊपर आये हुए उपसर्ग की भी खबर नहीं ।"

यह सुन कर क्षुल्लकजी के मन में उपसर्ग दूर करने हेतु विष्णुकुमार मुनिजी की सहायता लेने की बात आई । आचार्य श्री की आज्ञा लेकर वे क्षुल्लकजी तुरन्त ही विष्णुकुमार मुनि के पास आये और उन्हें सम्पूर्ण वृत्तान्त बता कर प्रार्थना की– "हे नाथ ! आप विक्रिया लब्धि से यह उपसर्ग तुरन्त दूर करें ।"

यह बात सुनते विष्णुकुमार मुनि के अन्तरंग में सात सौ मुनियों के प्रति परम वात्सल्य उमड़ आया । विक्रिया लब्धि को प्रामाणिक करने के लिए उन्होंने अपना हाथ लम्बा किया तो मानुषोत्तर पर्वत प्रर्यन्त सम्पूर्ण मनुष्य लोक में वह लम्बा हो गया । वे तुरन्त हस्तिनापुर आ पहुँचे और अपने भाई को– जो हस्तिनापुर के राजा थे, उनसे कहा– "अरे भाई ! तेरे राज्य में यह कैसा अनर्थ ?"

पद्मराय ने कहा–"प्रभो ! मैं लाचार हूँ, अभी राजसत्ता मेरे हाथ में नहीं है ।"

उनसे सम्पूर्ण बात जान कर विष्णुकुमार मुनि ने सात सौ मुनियों की रक्षा हेतु अपना मुनिपना थोड़ी देर के लिए छोड़ कर, एक बौने ब्राह्मण पण्डित का रूप धारण किया और बलि राजा के पास आकर अत्यन्त मधुर स्वर में उत्तमोत्तम श्लोक बोलने लगे ।

बलि राजा उस वामन पण्डित का दिव्य रूप देखकर और मधुर वाणी सुन कर मुग्ध हो गया ।

"आपने पधार कर यज्ञ की शोभा बढ़ाई ।" – ऐसा कह कर बलि राजा ने पण्डित का सम्मान किया और इच्छित वर माँगने को कहा ।

अहो, अयाचक मुनिराज ! जगत के नाथ !!..... वे आज स्वयं

सात सौ मुनियों की रक्षा करने के लिए याचक बने ! ऐसा है धर्म वात्सल्य !!

मूर्ख राजा को कहाँ मालूम था कि जिन्हें मैं याचना करने के लिए कह रहा हूँ , वे ही हमारे अर्थात् धर्म के दातार हैं और हिंसा के घोर पाप से मेरा उद्धार करने वाले हैं ।

उन ब्राह्मण वेष धारी विष्णुकुमार मुनि ने राजा से वचन लेकर तीन पग जमीन माँगी । राजा ने खुशी से वह जमीन नाप कर लेने को कहा ।

बस हो गया विष्णुकुमार का काम ।

विष्णुकुमार ने विराट रूप धारण किया । विष्णुकुमार का यह विराट रूप देख कर राजा तो चकित हो गया । उसे समझ ही नहीं आ रहा था कि यह क्या हो रहा है ।

विराट स्वरूप विष्णुकुमार ने एक पग सुमेरु पर्वत पर रखा और दूसरा मानुषोत्तर पर्वत पर रख कर बलिराजा से कहा —"बोल, अब तीसरा पग कहाँ रखूँ ? तीसरा पग रखने की जगह दे, नहीं तो तेरे सिर पर पग रख कर तुझे पाताल में उतार दूँगा ।"

मुनिराज की ऐसी विक्रिया होने से चारों ओर खलबली मच गई, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मानों काँप उठा । देवों और मनुष्यों ने आकर श्री विष्णुकुमार की स्तुति की और विक्रिया समेटने के लिए प्रार्थना की । बलि राजा आदि चारों विष्णुकुमारजी मुनिराज के पैरों में गिरकर गिड़गिड़ाने लगे "प्रभो ! क्षमा करो ! हमने आपको पहचाना नहीं ।"

श्री विष्णुकुमार ने क्षमाभाव पूर्वक उन्हें अहिंसा धर्म का स्वरूप समझाया तथा जैन मुनियों की वीतरागी क्षमा बता कर उसकी महिमा समझायी और आत्मा के हित का परम उपदेश दिया । उसे सुनकर उनका हृदय परिवर्तन हुआ और अपने पाप की क्षमा माँग कर उन्होंने आत्मा के हित का मार्ग अंगीकार किया ।

अहा ! विष्णुकुमार की विक्रियालब्धि बलि आदि की धर्म-प्राप्ति का कारण बन गई । उन जीवों का परिणाम एक क्षण में पलट गया।

"अरे, ऐसे शान्त वीतरागी मुनियों के ऊपर हमने इतना घोर उपसर्ग किया । धिक्कार है हमें"— ऐसे पश्चाताप पूर्वक उन्होंने जैनधर्म धारण किया ।

इस प्रकार विष्णुकुमार ने बलि आदि का उद्धार किया और सात सौ मुनियों की रक्षा की ।

चारों ओर जैनधर्म की जय-जयकार गूँज उठी । तत्काल हिंसक यज्ञ बन्द हो गया और मुनिवरों का उपसर्ग दूर हुआ । हजारों श्रावक परम भक्ति से सात सौ मुनिवरों की वैयावृत्य करने लगे, विष्णुकुमार ने स्वयं वहाँ जाकर मुनिवरों का वैयावृत्य किया और मुनिवरों ने भी विष्णुकुमार के वात्सल्य की प्रशंसा की । वात्सल्य का यह दृश्य अद्भुत था ।

बलि आदि मन्त्रियों ने मुनियों के पास जाकर क्षमा माँगी और भक्ति से उनकी सेवा की ।

उपसर्ग दूर होने पर मुनिसंघ आहार के लिए हस्तिनापुर नगरी में पहुँचा । हजारों श्रावकों ने अतिशय भक्ति पूर्वक मुनियों को आहारदान दिया, उसके बाद उन श्रावकों ने स्वयं भोजन किया । देखो, श्रावकों का भी कितना धर्म प्रेम ! धन्य हैं वे श्रावक!...... और धन्य हैं वे साधु!!

जिस दिन यह घटना घटी, उस दिन श्रावण सुदी पूर्णिमा का दिन था । विष्णुकुमार द्वारा महान वात्सल्य पूर्वक सात सौ मुनियों की तथा धर्म की रक्षा हुई, अतः वह दिन रक्षा पर्व के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह पर्व रक्षाबन्धन के नाम से आज भी मनाया जाता है ।

मुनियों पर आया उपसर्ग दूर होने पर विष्णुकुमार ने वामन पण्डित का वेष छोड़कर फिर से मुनि-दीक्षा लेकर मुनिधर्म धारण किया

और ध्यान से अपने आत्मा को शुद्ध रत्नत्रय धर्म के साथ अभेद करके ऐसा वात्सल्य प्रगट किया कि उन्होंने अल्पकाल में ही केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष पाया ।

**[ श्री विष्णुकुमार मुनिराज की यह कहानी हमें यह सिखाती है कि धर्मात्मा साधर्मी जनों को अपना समझ कर उनके प्रति अत्यन्त प्रीति पूर्वक वात्सल्य रखना चाहिये, उनके प्रति आदर-सम्मान पूर्वक हर प्रकार की मदद करनी चाहिये और उनके ऊपर कोई संकट आये तो अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उसका निवारण करना चाहिये । इस प्रकार धर्मात्मा के प्रति अत्यन्त प्रीति सहित आचरण करना चाहिये । जिसे धर्म की प्रीति होती है, उसे धर्मात्मा के प्रति प्रीति होती है । सच्चे आत्मार्थी सम्यग्दृष्टि अन्य धर्मात्मा के ऊपर आये संकट को देख नहीं सकते ।**

**संसारी जीवों की जैसी प्रीति अपने स्त्री-पुत्र-धनादि में होती है, वैसी प्रीति धर्म, धर्मात्मा एवं धर्मायतनों में होना ही 'धर्म वात्सल्य' है । ऐसा यथार्थ धर्म वात्सल्य सम्यग्दृष्टि जीवों के ही होता है । मुनिराज विष्णुकुमार की भी इसी कारण प्रशंसा की गई है ।**

**श्रावण की पूर्णिमा के दिन बलि आदि का बन्धन और धर्म की रक्षा हुई, इसलिए उसी दिन से यह पर्व 'रक्षाबन्धन' के नाम से चल पड़ा। वास्तव में कर्मों से न बँध कर स्वरूप की रक्षा करना ही सच्चा 'रक्षा-बन्धन' है।]**

*चित्त कोई जमीन नहीं, जिसे बल से, वैभव से, पुण्य-प्रताप से जीत लिया जाये। चित्त को जीत लेने वालों को छह खण्डों की नहीं अखण्ड आत्मा की प्राप्ति होती है।*

*अखण्ड आत्मा की उपलब्धि ही जीवन की सार्थकता है।*

***–आप कुछ भी कहो, पृष्ठ ३२***

## 8

## प्रभावना अंग में प्रसिद्ध मुनिश्री वज्रकुमार की कहानी

**जैसे होवे वैसे भाई, दूर हटा जग का अज्ञान।**
**कर प्रकाश, करदे विनाश तम, फैलादे शुचि सच्चा ज्ञान।।**
**तन-मन-धन सर्वस्व भले ही, तेरा इसमें लग जावे।**
**'वज्रकुमार' मुनीन्द्र सदृश तू, तब 'प्रभावना' कर पावे।।**

अहिछत्रपुर राज्य में सोमदत्त नामक एक मन्त्री था । उसकी गर्भवती पत्नि को आम खाने की इच्छा हुई । उस समय आम पकने का मौसम नहीं था, फिर भी मन्त्री ने वन में जाकर आम ढूँढा तो एक पेड़ पर एक सुन्दर आम झूलता हुआ दिखाई दिया, उसे बड़ा आश्चर्य हुआ । उस पेड़ के नीचे एक वीतरागी मुनिराज ध्यानस्थ बैठे थे । शायद, उन्हीं के प्रभाव से उस पेड़ पर आम पक गया था ।

मन्त्री ने भक्ति पूर्वक नमस्कार करके मुनि महाराज के सामने विनय पूर्वक हाथ जोड़ कर निवेदन किया । तब मुनि महाराज ने उस मन्त्री को निकटभव्य जान कर धर्म का स्वरूप समझाया । उसी समय अत्यन्त वैराग्यपूर्ण उपदेश सुनकर मन्त्री दीक्षा लेकर मुनि हो गये और वन में जाकर आत्म-साधना करने लगे ।

उस सोमदत्त मन्त्री की पत्नि ने यज्ञदत्त नामक पुत्र को जन्म दिया। वह पुत्र को लेकर मुनिराज (सोमदत्त) के पास आई, परन्तु संसार से विरक्त मुनि महाराज ने उससे मिलने से इंकार कर दिया । इससे क्रोधित होकर वह स्त्री बोली– "अगर साधु होना था तो मुझसे शादी क्यों की? मेरा जीवन क्यों बिगाड़ा? अब इस पुत्र का पालन-पोषण कौन करेगा?"

ऐसा कहकर उस बालक को वही छोड़कर वह चली गई। इस बालक का नाम था वज्रकुमार, क्योंकि उसके हाथ पर वज्र का चिह्न था।

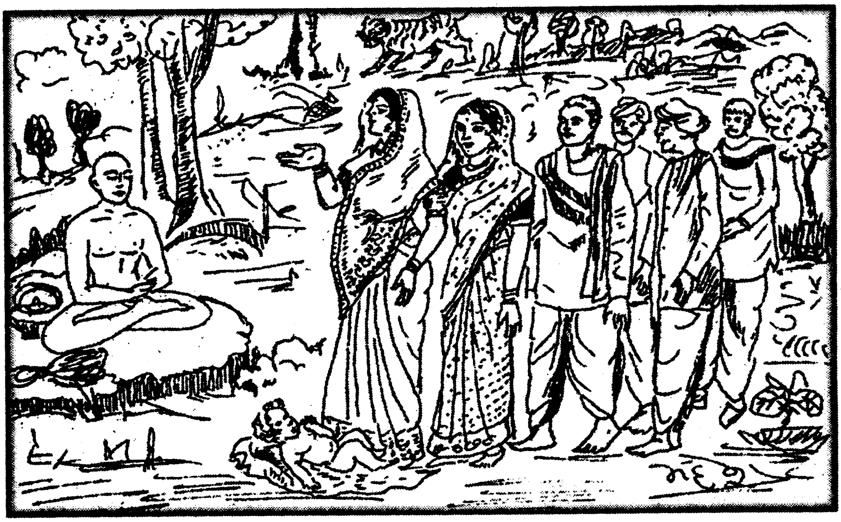

बस, उसी समय दिवाकर नाम के एक विद्याधर राजा तीर्थयात्रा करने निकले थे। जब मुनि महाराज को वन्दन करके जाने लगे तो उन्होंने गुफ़ा के बाहर ही एक अत्यन्त तेजस्वी बालक को पड़ा हुआ देखा। विद्याधर राजा की रानी ने उस बालक को एकदम उठा लिया और बड़े प्यार से उसे वे अपने साथ ले गये। उस वज्रकुमार बालक का पुत्र जैसा पालन-पोषण विद्याधर राजा के यहाँ होने लगा। **भाग्यवान जीवों को कोई न कोई निमित्त अवश्य ही मिल जाता है।**

वज्रकुमार के युवा होने पर वनवेगा नामक अत्यन्त सुन्दर विद्याधर कन्या के साथ उसकी शादी हुई। अपने बल पर उसने अनेक राजाओं को जीत लिया।

कुछ समय पश्चात् विद्याधर दिवाकर राजा की पत्नि को स्वयं का पुत्र हुआ। "अपने इस पुत्र को राज्य मिले" - ऐसी इच्छा से उस स्त्री को वज्रकुमार के प्रति द्वेष होने लगा।

एक बार तो वह यहाँ तक कह गई - "अरे यह किसका पुत्र है ? जो यहाँ आकर हमें परेशान कर रहा है।"

इस बात को सुनते ही वज्रकुमार का मन उदास हो गया। उसे ज्ञात हुआ कि उसके माता-पिता कोई और हैं। तब विद्याधर से उसने सम्पूर्ण हकीकत जान ली, तब उसे मालूम हुआ कि उसके पिता दीक्षा लेकर मुनि हो गये हैं। तुरन्त ही वह विमान में बैठ कर उन मुनिराज की खोज में निकल पड़ा।

एक दिन जब वज्रकुमार का विमान एक पर्वत के ऊपर से जा रहा था तो वहाँ उसने पर्वत की चाटी पर एक मुनिराज को ध्यान-साधना करते हुए देखा। उसने अपना विमान वहाँ उतारा तो देखता है कि वे सोमदत्त मुनिराज ही हैं। ध्यान में वराजमान सोमदत्त मुनिराज को देख कर वह बहुत प्रसन्न हुआ। इस विचित्र दुःखमय संसार के प्रति उसे वैराग्य हुआ। उसके मन में विचार आया कि अपने पिता से वारसा – हक्क में मुनि दीक्षा माँगनी चाहिये।

वज्रकुमार ने परम भक्ति से मुनिराज को वन्दन किया और कहा – "हे पूज्य देव मैं इस दुःखरूप संसार से घबराया हूँ। मैं जान गया हूँ कि इस संसार में आत्मा के अलावा कुछ भी अच्छा नहीं है। मैं सच्चे सुख की प्राप्ति करना चाहता हूँ, इसलिए आप मुझे मुनि-दीक्षा दीजिये।"

सोमदत्त मुनि ने उसकी परीक्षा करने के पहले तो उसे दीक्षा न लेने के लिए बहुत समझाया, परन्तु वज्रकुमार ने अपना दृढ़ शाखा निश्चय किया था, उसे देखकर और उसे निकटभव्य जानकर मुनिराज ने उसे मुनि-दीक्षा दे दी।

निर्ग्रन्थ वीतरागी साधु बन कर वे आत्मा के ज्ञान-ध्यान में रहने लगे। धर्म की प्रभावना करते हुए वे देश-विदेश में विहार करने निकले। एक बार उनके प्रताप से मथुरा नगरी में धर्म प्रभावना का एक अनोखा प्रसंग बना।

[ वहाँ क्या हुआ? यह जानने के लिए अपनी कहानी को मथुरा नगरी में ले जाना चाहिये ।]

मथुरा नगरी में एक गरीब अनाथ लड़की जूठन खाकर पेट भरती थी, उसे देख कर एक अवधिज्ञानी मुनि बोले— "देखो, कर्म की विचित्रता! यह लड़की कुछ वर्षों पश्चात् राजा की पटरानी बनेगी।"

मुनि की यह बात एक बौद्ध भिक्षुक ने सुनी और वे उसे अपने मठ में ले गये। इस लड़की का नाम बुद्धदासी रख कर वहीं उसका लालन-पालन होने लगा, उसे बौद्ध धर्म के संस्कार मिले।

आगे चल कर जब वह युवा हुई, तब उसका अत्यन्त सुन्दर रूप देखकर राजा मोहित हो गया और उसने उससे शादी करने की माँग की, परन्तु इस राजा की उर्मिला नाम की रानी थी, जो जिनधर्म का पालन करती थी।

तब मठ के लोगों ने कहा—"राजा स्वयं बौद्ध धर्म स्वीकार करें और बुद्धदासी को पटरानी बनायें। इस शर्त पर ही हम शादी करने की स्वीकृति देंगे।"

कामान्ध राजा ने बिना सोचे-समझे ही यह बात स्वीकार कर ली। अरे! धिक्कार हो इन पंचेन्द्रियों के विषयों को। कामान्ध जीव सच्चे धर्म से भी भ्रष्ट हो जाते हैं। पश्चात् एक दिन बुद्धदासी राजा की पटरानी बन गई। वह बौद्ध धर्म का बहुत प्रचार करने लगी।

इधर उर्मिला रानी जिनधर्म की परम भक्त थी। उसने हर साल की तरह इस साल भी अष्टाह्निका पर्व में जिनेन्द्र भगवान की बहुत

बड़ी अद्भुत शोभायात्रा निकालने की तैयारी की, परन्तु बुद्धदासी को यह सहन नहीं हुआ। उसने राजा से कह कर रथयात्रा स्थगित करवा दी और बौद्धों की रथयात्रा पहले निकलवाने को कहा। अरे, जिनधर्म की परम महिमा की इसे कैसे खबर हो ? गाय का दूध और आक का दूध— इसका अन्तर मदहोश व्यक्ति कैसे जान सकता है ?

जिनेन्द्र भगवान की रथयात्रा में विघ्न होने से उर्मिला रानी को बहुत दुःख हुआ और रथयात्रा नहीं निकलने से उसने अनशन व्रत धारण करके वन में जाकर सोमदत्त तथा वज्रकुमार मुनियों के सान्निध्य में शरण ली। उसने मुनिवरों से प्रार्थना की कि वे जैनधर्म पर आये हुए इस संकट का निवारण करें।

रानी की बात सुन कर वज्रकुमार मुनिराज के अन्तर में धर्म-प्रभावना का भाव उल्लसित हुआ। इसी समय विद्याधर राजा दिवाकर अपने विद्याधरों सहित वहाँ मुनियों के दर्शन-वन्दन करने आये। वज्रकुमार मुनि ने कहा—"राजन्, आप जैनधर्म के परम भक्त हैं और धर्म के ऊपर मथुरा नगरी में संकट आया है, वह दूर करने में आप समर्थ हैं। धर्मात्माओं को धर्म की प्रभावना का उत्साह होता है, तन से, मन से, धन से, शास्त्र से, ज्ञान से, विद्या से, सर्व प्रकार से वे जिनधर्म की वृद्धि करते हैं और धर्मात्माओं का कष्ट निवारण करते हैं।"

दिवाकर राजा को धर्म का प्रेम तो था ही, मुनिराज के उपदेश से उसे और भी प्रेरणा मिली।

मुनिराज को नमस्कार करके तुरन्त ही उर्मिला रानी के साथ सभी विद्याधर मथुरा नगरी आ पहुँचे। उन्होंने बड़े जोरों की तैयारी के साथ बड़ी धूमधाम से जिनेन्द्र भगवान की शोभायात्रा निकाली।

हजारों विद्याधरों के प्रभाव को देखकर राजा और बुद्धदासी भी आश्चर्य चकित हो गये और जिनधर्म से प्रभावित होकर आनन्द पूर्वक उन्होंने जैनधर्म स्वीकार करके अपना कल्याण किया तथा सत्य

धर्म की प्रेरणा के लिए उर्मिला रानी का उपकार माना ।

उर्मिला रानी ने उन्हें जिनधर्म के वीतरागी देव-गुरु की अपार महिमा समझायी । मथुरा नगरी के हजारों जीव भी ऐसी महान धर्म प्रभावना देख कर आनन्दित हुए और बहुमान पूर्वक जिनधर्म की उपासना करने लगे । इस प्रकार वज्रकुमार मुनि और उर्मिला रानी द्वारा जिनधर्म की महान प्रभावना हुई ।

**[ वज्रकुमार मुनिराज की यह कहानी हमें जिनधर्म की सेवा और अत्यन्त महिमा पूर्वक उसकी प्रभावना करने की शिक्षा देती है । हमें भी सर्व प्रकार, तन-मन-धन से, ज्ञान से, श्रद्धा से, धर्म पर आये हुए संकट का निवारण करके, धर्म की महिमा प्रसिद्ध करना चाहिये ।]**

## श्री सकलकीर्ति श्रावकाचार : अध्याय ११

# सम्यक्त्व-महिमा

**हे वत्स ! तुम परम भक्ति से सम्यक्त्व को भजो !**

**श्री सकलकीर्ति श्रावकाचार के इस दोहन में सम्यक्त्व के आठ अंगों की कहानियाँ आपने पढ़ीं । अब उसके ग्यारहवें अध्याय में १०८ श्लोकों द्वारा सम्यक्त्व की परम महिमा बता कर उनकी आराधना करने की प्रेरणा दी जाती है, उसका दोहन आप पढ़ें ।**

वीतराग जिन-धर्म का सेवन छोड़ कर मिथ्या धर्म के सेवन से जो मूढ़ जीव आत्म-कल्याण की इच्छा करता है, वह कैसा है ? वह जीवन जीने के लिए जहर खाने वाले व्यक्ति के समान मूर्ख होता है।

बुद्धिमान अल्प क्षयोपशम ज्ञान को पाकर उसका मद नहीं करता। अरे, अंग-पूर्व के महान श्रुत-धारकों के सामने मेरे इस अल्प ज्ञान की क्या तुलना है ?

अरे, क्षणभर में नष्ट होने वाले इस शरीर बल का अभिमान क्यों?

विचित्र-अद्भुत सम्यग्दर्शन-कला के सामने लौकिक सुन्दर लेखनादि कला का अभिमान करना अशुभ है ।

जिस प्रकार मलिन दर्पण में मुँह नहीं दिखता, उसी प्रकार मोह से मलिन मिथ्या श्रद्धा में आत्मा का सच्चा रूप नहीं दिखता, मुक्ति का मुँह उसमें नहीं दिखता ।

जिस प्रकार निर्मल दर्पण में मनुष्य अपने रूप का अवलोकन करता है, उसी प्रकार उसके सम्यक्त्व रूपी निर्मल दर्पण में धर्मी जीव मुक्ति का मुँह देखता है, अपना सच्चा रूप देखता है ।

सम्यग्दर्शन सहित जीव विशेष ज्ञान-व्रतादि बिना भी इन्द्र तीर्थंकर आदि विभूति पाते हैं ।

ज्ञान-चारित्रादि का मूल सम्यग्दर्शन है —ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है । उसके बिना ज्ञान और चारित्र अज्ञान और अचारित्र हैं, अत: मोक्ष के लिए निरर्थक हैं ।

व्रत-चारित्र के बिना तथा विशेष ज्ञान के बिना अकेला सम्यक्त्व भी अच्छा है, प्रशंसनीय है, परन्तु मिथ्यात्व रूपी जहर से भरे हुए व्रत-दानादि अच्छे नहीं हैं ।

सम्यक्त्व बिना जीव सच में पशु समान है, जन्मान्ध के समान वह धर्म-अधर्म को जानता नहीं ।

दु:खों से भरे हुए नरक में भी सम्यक्त्व सहित जीव शोभायमान होता है, उसके बिना जीव देव लोक में भी नहीं शोभता, क्योंकि नरक का जीव तो सारभूत सम्यक्त्व के माहात्म्य के कारण वहाँ से निकल कर लोकालोक को प्रकाशित करने वाला तीर्थंकर हो सकता है । लेकिन मिथ्यात्व के कारण भोगों में तत्पर देवलोक का जीव आर्तध्यान से मरकर स्थावर योनि में जाता है ।

तीन काल या तीन लोक में सम्यक्त्व के समान अन्य कोई इस जीव का हितकारी नहीं है । जगत में, जीव का सम्यक्त्व ही एक परम हितकारी है ।

सम्यक्त्व के अलावा दूसरा कोई जीव का मित्र नहीं, दूसरा कोई धर्म नहीं, दूसरा कोई सार नहीं, दूसरा कोई हित नहीं, दूसरा कोई माता-पितादि स्वजन नहीं या दूसरा कोई सुख नहीं । मित्र-धर्म-सार-हित-स्वजन-सुख— ये सभी सम्यक्त्व में समा जाते हैं ।

सम्यक्त्व से अलंकृत अस्पृश्य मनुष्य भी देवों जैसा पूज्य है, परन्तु सम्यक्त्व के बिना जीव त्यागी होने पर भी पग-पग पर निन्दनीय है ।

एक बार सम्यक्त्व को अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिए ग्रहण करके

जीव कदाचित् उसे छोड़ दे तो भी अल्प काल में अवश्य (फिर से सम्यक्त्वादि ग्रहण करके) मुक्ति पाता है ।

जिस भव्य जीव को सम्यक्त्व होता है, उसके हाथ में चिन्तामणि होता है, उसके घर में कल्पवृक्ष और कामधेनु होते हैं ।

इस लोक में निधान के समान जैसे सम्यक्त्व भव्य जीवों को सुख-दाता है, वह सम्यक्त्व जिन्होंने प्राप्त किया है, उनका जन्म सफल है ।

जो जीव हिंसा छोड़ कर, वन में जाकर अकेले रहते हैं और ठंडी-गर्मी आदि सहन करते हैं; परन्तु सम्यग्दर्शन के बिना हैं, वे तो वन में खड़े पेड़ के समान होते हैं ।

सम्यक्त्व के बिना जीव दान-पूजा-व्रतादि रूप किंचित् करते हैं, वे सभी विफल हैं..... विरुद्ध फल वाले हैं ।

दृष्टिहीन जीव अनेक व्रत-दानादि पुण्य करके, उसके फल में इन्द्रिय भोगों को पाकर पश्चात् भव-अरण्य में भ्रमण करते हैं ।

सम्यक्त्व के बल से जिन कर्मों का सहज में नाश हो जाता है, वे कर्म सम्यक्त्व बिना घोर तपश्चरण से भी नाश नहीं होते ।

सम्यक्त्वादि से विभूषित गृहस्थपना भी श्रेष्ठ है, क्योंकि वह व्रत-दानादि से संयुक्त है और भविष्य में निर्वाण का कारण है ।

मुनिव्रत सहित, सर्व संग रहित, देवों से पूज्य— ऐसा जिनरूप भी सम्यग्दर्शन बिना नहीं शोभता, वह तो प्राण बिना सुन्दर शरीर के समान है ।

दर्शन रहित जीव कभी निर्वाण को प्राप्त नहीं होता । यदि सम्यक्त्व से अलंकृत जीव कदाचित् चारित्रादि से च्युत हो जाय तो भी फिर से चारित्र पाकर मोक्ष पा सकता है ।

जिस प्रकार नेत्र-हीन जीव रूप को नहीं जान सकता, उसी प्रकार सम्यक्त्व-चक्षु के बिना अन्धा जीव देव-गुरु को या गुण-दोषों को नहीं जानता ।

जिस प्रकार प्राण बिना शरीर को मृतक कहा जाता है, उसी प्रकार दृष्टि-हीन जीव को चलता हुआ मृतक कहा जाता है ।

सम्यक्त्व सहित जीव भले ही सिर्फ नमस्कार मन्त्र को जानता हो तो भी गौतमादि आचार्य उसे सम्यग्ज्ञानी कहते हैं और सम्यक्त्व बिना जीव ग्यारह अंगों को जानता हो तो भी उसे अज्ञानी कहते हैं।

अहो! यह सम्यग्दर्शन है, वह ज्ञान-चारित्र का बीज है, मुक्ति-सुख का दातार है, उपमा रहित अमूल्य है, इसलिए हे जीव ! तू इसे सुख पाने के लिए ग्रहण कर ।

जिन्होंने अपने सम्यक्त्व रत्न को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया, वे जीव जगत में धन्य हैं, पूज्य हैं, वन्द्य हैं और उत्तम बुद्धिमानों से प्रशंसनीय हैं ।

दृष्टि-रत्न सहित जीव जहाँ जाता है, वहाँ अनेक महिमा युक्त और सर्व इन्द्रिय सुखों के बीच रहते हुए भी धर्म सहित रहता है और कल्याण परम्परा सहित तीन लोक को आश्चर्य करने वाले धर्म चक्र से शोभता है, अनन्त महिमा-युक्त, दर्शनीय और सुख की खान— ऐसी तीर्थंकर विभूति को भी वे उत्तम धर्मात्मा प्राप्त करते हैं ।

अधिक क्या कहें ? जगत में जितना सुख है, वह सब उत्कृष्टपने सम्यग्दृष्टि को प्राप्त होता है ।

**सम्यक्त्व है, वह सार है, वह समय का सर्वस्व है।**
**सिद्धान्त का जीवन वही, वह मोक्षगति का बीज है।।**
**विधि जान कर बहुमान से, आराधना सम्यक्त्व को।**
**सब सुक्ख ऐसे पाएगा, आश्चर्य होगा जगत को।।**

विधि पूर्वक उपासना करने से प्राप्त हुआ सम्यक्त्व ही समय का सर्वस्व है— सर्व शास्त्रों का सार है, समस्त सिद्धान्त का जीवन है— प्राण है और वही मोक्षगति का बीज है ।

शुद्ध सम्यक्त्व के आराधक धर्मात्मा को मोक्ष सुख प्राप्त होता है, अतः वहाँ स्वर्ग की क्या बात ?

निरतिचार सम्यक्त्व के धारक को तीन लोक में अलभ्य क्या है? जगत में कुछ भी उसे अलभ्य नहीं।

सम्यग्दर्शन के प्रताप से मुनियों को ऐसा मोक्ष सुख मिलता है जो स्वयंभू है आधारभूत ऐसे इन्द्रिय-विषयों से जो पार है, देहादि भार से जो रहित है, उपमा रहित है, अत्यन्त सारभूत है और संसार-सागर से पार है, रोग-जन्म-शंका-बाधा आदि उसमें नहीं हैं।

अहो, यह सम्यग्दर्शन सकल सुख का निधान है, स्वर्ग-मोक्ष का द्वार है, नरक गृह को बन्द करने वाला दरवाजा है, कर्म रूपी हाथी का नाश करने के लिए सिंह जैसा है, दुरित वन को छेदने वाली कुल्हाड़ी है और समस्त सुख की खान है। समस्त प्रकार के सन्देह से रहित ऐसे सम्यक्त्व को हे भव्य ! तू भज!!

इसलिए हे मित्र ! कर्म रूपी पर्वत को चूर-चूर करने के लिए वज्रपात के समान, दु:ख रूपी दावानल को शान्त करने के लिए घमासान मेघ के समान, सारभूत ऐसे मोक्ष सुख को देने वाला और गुणों का घर— ऐसा यह सम्यग्दर्शन है, उसे मोक्ष की प्राप्ति के लिए तू भज!

अहो ! यह सम्यग्दर्शन मोक्ष फल को देने वाला सच्चा कल्पवृक्ष है, जिनवर-वचन की श्रद्धा इसका मूल है, तत्त्व-श्रद्धा इसका मजबूत आधार है, समस्त गुणों की उज्ज्वलता रूप जल-सिंचन से वर्द्धमान है, चारित्र उसकी शाखायें हैं, सभी समितियाँ उसके पत्र-पुष्प हैं और मोक्षसुख रूपी फल के लिए वह लालायित हो रहा है। इस प्रकार यह सम्यग्दर्शन सर्वोत्तम कल्पवृक्ष है। अहो जीवो ! उसका सेवन करो !

इस कल्पवृक्ष की महान छाँव लेने वाला भी महा भाग्यवान है।

जो ऐसे सर्वगुणसम्पन्न अजोड़ सम्यग्दर्शन को धारण करते हैं, वे उत्तम पुरुष धन्य हैं, कृतकृत्य हैं, वे ही सार-असार का विचार करने में चतुर हैं, पाप शत्रु का विध्वंस करने वाले हैं और वे ही सभी सुख भोग कर मुक्ति-महल जाते हैं, तीन लोक में पूज्य हैं; अत: हे भव्य जीवो! आप भी इस सम्यक्त्व को आज ही धारण करो!

## श्री सकलकीर्ति श्रावकाचार : अध्याय १२ से १६

# श्रावक की धर्मसाधना

### (पाँच अणुव्रतों का उदाहरण सहित वर्णन)

**जैन सद्गृहस्थ श्रावक का जीवन कैसे सुन्दर धार्मिक आचरण से शोभित होता है, उसका यह वर्णन है। उसके मूल कर्त्तव्य रूप सम्यक्त्व की महिमा तथा उसके लिए सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के स्वरूप की पहचान कैसे होती है? –यह बताया जा चुका है। अब सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् श्रावक के अहिंसादि व्रत कैसे होते हैं? उसका वर्णन तथा उदाहरण स्वरूप उनकी कहानियाँ भी आप यहाँ पढ़ना। श्री सकलकीर्ति श्रावकाचार (अध्याय १२ से १६) में से यह दोहन दिया है।**

**समकित सहित आचार ही संसार में इक सार है।**
**जिनने किया आचरण उनको नमन सौ-सौ बार है।।**
**उनके गुणों के कथन से गुण-ग्रहण करना चाहिये।**
**अरु पापियों का हाल सुन कर पाप तजना चाहिये।।**

सम्यग्दर्शन के बाद श्रावक के ग्यारह प्रतिमाओं रूप धर्म स्थानों में सर्वप्रथम दर्शन-प्रतिमा है। सम्यक्त्व सहित जिसने अतिचार रहित आठ मूलगुणों को धारण किया है और जिसे सात व्यसनों का त्याग है, उसे जिनेन्द्र देव दर्शन-प्रतिमा युक्त दार्शनिक श्रावक कहते हैं।

मद्य-माँस-मधु तथा पाँच उदुम्बर फलों का निरतिचार त्याग– ये अष्ट मूलगुण हैं। अण्डा भी पंचेन्द्रिय जीव का माँस ही है।

माँस को छोड़े बिना जो धर्म की इच्छा करता है, वह मूर्ख जीव आंख के बिना नाटक देखने के इच्छुक अन्धे के समान है।

रोगादि दूर करने के हेतु से भी जो मधु आदि का उपयोग करता है, वह जीव महापाप से नरकादि दुर्गति में जाता है ।

प्राणों का त्याग हो जाय तो भले हो जाय तथा चाहे जैसा दुष्काल होने पर भी असंख्य त्रस जीवों से भरे हुए पाँच उदुम्बर फलों का भक्षण करना उचित नहीं है । हे मित्र ! धर्म की प्राप्ति के लिए तू उन सभी का त्याग कर !

बारह व्रतों के मूल कारण आठ मूलगुण हैं और ये बारह व्रतों के पहले धारण किये जाते हैं, इसलिए इन्हें श्रावक के मूलगुण कहते हैं, ये स्वर्गादि के भी कारण हैं ।

द्यूत-क्रीड़ा, माँस, शराब, वेश्या, शिकार, चोरी, परस्त्री— इन सातों का सेवन महापाप रूप है और ये सात नरकों के सात द्वार हैं, इसलिए हे भाई ! इन सात पाप-व्यसनों को तू सर्वथा छोड़ दे ।

पाप-राजा ने अपना राज्य पक्का करने के लिए और अपने शत्रुओं का नाश करने के लिए सात व्यसन रूपी सेना रखी है । अतः "हे मुमुक्षु! तू उन्हें वश कर ! तेरे सम्यक्त्व और ज्ञान-वैराग्य के बल से उन्हें नाश कर दे। सम्यक्त्व रूपी सुदर्शन चक्र और आठ अंग तथा पाँच व्रत रूपी तेरी सेना से सप्त व्यसनों की सेना को नष्ट करके अष्ट मूलगुणों का धारक बन जा ।"

*बिना विवेक के श्रद्धा अंधी होती है। गुण-दोष का निर्णय करना विवेक का काम है। श्रद्धा का स्वभाव तो समर्पण का है, जिसके प्रति हो गई, उसके प्रति सर्वस्व समर्पण पर तुल जाती है। विवेकहीन श्रद्धा अस्थान या कुस्थान में लगे तब तो हानि करती ही है, यदि सुस्थान में भी लगे तो भी लाभ नहीं करती, क्योंकि सत्य-असत्य और गुण-दोष का निर्णय करना उसका काम नहीं है।*

**—सत्य की खोज, पृष्ठ ८१**

# 1

# अहिंसा व्रत

सर्व जीवों के प्रति दया रूप अहिंसा को गणधर देव ने व्रतों की जननी कहा है । पाँचों व्रत अहिंसा रूपी माता के ही पुत्र हैं ।

अहिंसा माता, माता के समान सर्व जीवों का हित करने वाली है तथा वह अनेक गुणों की जन्मभूमि है, सुख करने वाली है और सारभूत सर्व गुणों की दातार है, वह सुख की निधान और रत्नत्रय की खान है।

सद्धर्म रूपी बगीचा खिला कर, उसमें स्वर्ग-मोक्ष का फल लगाने के लिए तथा दुःख-दाह दूर करके, शीतल शान्ति की छाया देने के लिए, इस अहिंसा को भगवान ने उत्तम मेघ-वर्षा के समान कहा है । मुक्ति की सखी ऐसी इस अहिंसा का मुनिराज भी सेवन करते हैं ।

मुनि तथा श्रावक सभी को सकल व्रतों में एकमात्र इस अहिंसा व्रत का ही उपदेश दिया गया है, क्योंकि अहिंसा का पालन करने वाले के द्वारा सभी व्रतों का पालन सहज रूप से हो जाता है । इसके बिना व्रत-तप आदि एक के बिना शून्य के समान हैं ।

अरे रे ! दया बिना जीव........किस काम का ?

अहिंसा रूप वीतराग भाव ही सिद्धान्त का सर्वस्व है, यही चारित्र का प्राण है और धर्मवृक्ष का मूल है ।

कदाचित् सर्प के मुख से अमृत निकले और कदाचित् रात्रि में सूर्य उगे, परन्तु हिंसा से तो कदापि धर्म नहीं होता ।

'हे श्रावकोत्तम ! अहिंसा व्रत का पालन करने के लिए, तत्काल छना हुआ पानी ही उपयोग करना चाहिए । सड़ा हुआ या

डंक लगा हुआ अनाज तथा सड़ा हुआ फल उपयोग में नहीं लेना चाहिए । शत्रु या पशु या बालक आदि को हाथ या लकड़ी आदि से मारना नहीं चाहिए, क्योंकि यह तो क्रूरता का काम है ।

मुख से भी 'मैं तुम्हें मार दूँगा' इत्यादि हिंसा के वचन बोलना नहीं चाहिए । अपनी सभी प्रवृत्ति जीव-रक्षा के लिए प्रयत्न पूर्वक सावधानी से करनी चाहिए, जिससे अपने परिणाम में कषाय की उत्पत्ति ही नहीं हो और व्रत के योग्य शुद्ध अकषाय परिणाम बना रहे ।

अरे जीव ! तुझे एक तृण के कठोर स्पर्श से भी दु:ख होता है तो दूसरे जीवों पर तू शस्त्र किस प्रकार चलाता है ? तू कैसा निर्दयी है? अरे निर्दयी ! हिंसा की तो जगत के सभी विद्वानों ने निन्दा की है, क्योंकि वह नरक का कारण है और दु:ख देने वाली है । ऐसी पापमयी हिंसा को छोड़ और जीवों के ऊपर दया कर ..... अकषाय भाव धारण कर ।''

''हे प्रभो ! पुराणों में अहिंसा व्रत के पालने में कौन प्रसिद्ध है ? और उसका कैसे उत्तम फल मिलता है ? उसकी कहानी बताइये।''

''हे वत्स ! सुन अहिंसा व्रत के पालने में यमपाल चाण्डाल की कहानी प्रसिद्ध है—

## यमपाल चाण्डाल की कहानी:-

पोदनपुर में महाबल नामक राजा और उसका बल नामक पुत्र रहता था। राजकुमार बल दुष्ट-पापी था और माँस-भक्षण करता था । उस राज्य में यमपाल चाण्डाल गुनहगारों को फाँसी देने का काम करता था ।

वहाँ, एक बार अष्टाह्निका महापर्व के पवित्र दिनों में राजा ने आज्ञा की—''अष्टाह्निका महापर्व के ये आठ दिन महा मंगल हैं, उनमें

सभी लोग धर्म की यथाशक्ति आराधना करें और इन आठ दिनों में किसी भी जीव की हिंसा नहीं करें ।''

इसके बाद भी राजा की आज्ञा को भंग करके, उस पापी राजकुमार ने बाग में राजा की भेड़ को मार कर उसका माँस खाया, परन्तु माली ने उसे देख लिया और उसने राजा को यह बात कह दी । राजा को अत्यन्त क्रोध आया और उसने ऐसी जीव हिंसा करने वाले तथा राजा की आज्ञा का भंग करने वाले राजकुमार को फाँसी देने का आदेश दिया ।

पश्चात् राजकुमार को फाँसी देने के लिए सिपाही यमपाल चाण्डाल को बुलाने आये । राजकुमार को फाँसी देते समय उसके शरीर पर मौजूद मूल्यवान आभूषण तथा वस्त्र यमपाल को मिलेंगे और वह खुश होगा— ऐसा समझ कर सिपाहियों ने उसके घर में आवाज दी।

दूर से ही उन्हें आता देखकर, यमपाल तो घर में छिप गया और पत्नि से कहा— ''राजा के सिपाही बुलाने आयें तो उन्हें कहना कि मैं घर में नहीं हूँ, बाहर गांव गया हूँ ।''

[ देखो, यमपाल क्यों छिप गया ? क्या वह सिपाहियों से डरता था ? नहीं, उसके छिपने का कारण कोई दूसरा था ।]

सिपाही आये और यमपाल को आवाज लगाई । उसकी पत्नि ने जवाब दिया— ''वह बाहर गाँव गया है, घर में नहीं है ।''

सिपाहियों ने अपना सिर पीट लिया और कहा— ''अरे रे ! पुण्यहीन यमपाल, आज ही बाहर गाँव चला गया । वह अगर हाजिर होता तो राजकुमार को मारने से उसे कितना सोना और कितने हीरे-जवाहरात के आभूषण मिलते । अब तो उन्हें कोई दूसरा ही ले जायेगा ।''

सिपाहियों की यह बात सुन कर चाण्डाल की पत्नि को उन

आभूषणों का लोभ जागा, उससे रहा नहीं गया, उसने हाथ से इशारा करके– "यमपाल घर में ही छुपा है"– ऐसा सिपाहियों को समझा दिया।

सिपाहियों को क्रोध आया और वे यमपाल को पकड़ कर उसे जबरदस्ती वध स्थान पर ले गये और कहा–"तू इस राजकुमार को मार और उसके आभूषणों को ले जा ।"– ऐसी राजा की आज्ञा है।

यमपाल ने कहा– "आज मैं उसे नहीं मारूँगा ।"

अनपढ़ सिपाही यमपाल की भावना समझ नहीं सके और उसे जोर से धमका कर कहा– "यह राजकुमार गुनहगार है और राजा की आज्ञा है, इसलिए तू इसे मार । यदि राजा की आज्ञा नहीं मानेगा तो तू भी उसके साथ मरेगा ।"

यमपाल ने निर्भयता से उत्तर दिया– "चाहे जो हो जाये, परन्तु आज मुझसे राजकुमार मारा नहीं जा सकता ।"

इसलिए सिपाही उस यमपाल को पकड़ कर राजा के पास ले गये और कहा– "महाराज ! यह चाण्डाल राजकुमार को आपका पुत्र समझ कर मारता नहीं है और राजाज्ञा को भंग कर रहा है ।"

राजा ने पूछा– "तू राजपुत्र को मारता क्यों नहीं है ? यह मेरी आज्ञा है और तेरा तो फाँसी देने का धंधा है । इसके अलावा आज राजकुमार को फाँसी देने पर लाखों की कीमत के आभूषणों का तुझे लाभ होने वाला है । ऐसा होने पर भी तू आज क्यों मेरी आज्ञा का पालन नहीं कर रहा ?"

चाण्डाल ने विनय पूर्वक कहा– "महाराज ! मेरी बात सुनिये! आज चतुर्दशी है और मैं आज के दिन किसी भी जीव का घात नहीं करूँगा– ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है । प्राण भले ही चले जायें, फिर भी मैं अपनी प्रतिज्ञा का पालन करूँगा, इसलिए आज मैं किसी जीव का घात नहीं करूँगा । तथा हे महाराज ! आज तो नन्दीश्वर के अष्टाह्निका

महापर्व का अन्तिम महान दिवस है, तब मैं हिंसा का पाप क्यों करूँ ?''

अब राजा का कुतूहल जाग उठा, उन्होंने चाण्डाल से एक साथ अनेक प्रश्न पूछे— ''हे भाई ! तूने चतुर्दशी के दिन किसी भी जीव को नहीं मारने की प्रतिज्ञा किस कारण ली? कब ली? किससे ली ?''

उस पर यमपाल ने कहा— ''महाराज ! इसके पीछे मेरी एक छोटी-सी कहानी है, उसे सुनिये— एक बार मुझे एक भयंकर साँप ने काटा और उसके जहर से मैं मूर्छित हो गया, परन्तु मेरे स्त्री-पुत्रादि कुटुम्बी जनों ने तो मुझे मरा हुआ समझ कर श्मशान में फेंक दिया। दैव योग से वहाँ सर्वोषधि ऋद्धि के धारक एक मुनिराज आये और उनके शरीर से स्पर्शित हवा मेरे शरीर को लगते ही, शुभ कर्म के उदय से मेरी मूर्च्छा दूर हो गई । मेरा जहर उतर गया और मैं मरा नहीं, तत्काल उठ कर खड़ा हो गया ।

अहो, उन मुनिराज की वीतरागता और उनके प्रभाव की क्या बात ? बस ! उसी समय उन परम उपकारी मुनिराज के पास मैंने व्रत लिया कि चतुर्दशी के दिन मैं किसी भी जीव की हिंसा नहीं करूँगा।

इसलिए हे राजन् ! इस पर्व के दिन में अपने सर्व पापों का नाश करने के लिए मैं किसी भी जीव को नुकसान नहीं पहुँचाता । अब आप जो सही समझें, वह करें ।''

[ यहाँ इस प्रकार के आंशिक अहिंसा के पालन करने में भी यमपाल की जो श्रद्धा थी, इसे समझने के लिए उसका उदाहरण लेना। इसी श्रद्धा की दृढ़ता के कारण वह पूर्ण अहिंसा के पालन करने की तरफ बढ़ सका, इसलिए शास्त्रों में उसका उदाहरण लिया है ।

अहिंसा का एक अंश भी जिसे अच्छा लगता है और जो प्राणान्त होने तक भी उसका पालन नहीं छोड़ता, उसे अव्यक्तपने पूर्ण अहिंसा रूप वीतराग भाव अच्छा लगा है और उसकी श्रद्धा का बीज यहीं बोया गया है ।]

इस प्रकार यमपाल ने अपने व्रत की बात कही, परन्तु राजा को यमपाल की बात पर विश्वास नहीं बैठा, उन्हें ऐसा लगा– ''ऐसा उत्तम अहिंसा व्रत इस अस्पृश्य चाण्डाल से कैसे होगा ?'' ऐसा विचार करके उन्होंने कोतवाल को आदेश दिया– ''यह राजकुमार और चाण्डाल दोनों की मिली-भगत है, दोनों दुष्ट हैं, अत: इन दोनों का रस्सी से बाँध कर मगरमच्छ से भरे हुए भयंकर सरोवर में फेंक दो।''

''राजा की यह बात सुन कर भी यमपाल अपने व्रत में दृढ़ रहा। उसने ठान लिया कि प्राण चले जायें तो भी व्रत का भंग नहीं करूँगा।''

इस प्रकार मरण का भय छोड़ कर निर्भय सिंह की तरह वह व्रत में दृढ़ रहा और उत्तम भावना भाने लगा...... वीतरागी अहिंसा की तरफ उसका परिणाम और अधिक उल्लसित होने लगा ।

इधर कोतवाल ने राजा की आज्ञा के अनुसार दोनों को बाँध कर सरोवर में फेंक दिया । पापी राजपुत्र को तो मगरमच्छ खा गया, परन्तु व्रत के माहात्म्य से प्रभावित होकर यमपाल चाण्डाल को देवो

ने सरोवर के बीचों-बीच रत्न-सिंहासन की रचना करके उसके ऊपर बिठाया और वादित्र बजा कर उसके व्रत की प्रशंसा की ।

ऐसा दैवी-प्रभाव देख कर राजा भयभीत हुआ और प्रभावित होकर उसने यमपाल की प्रशंसा करके उसका सम्मान किया ।

अहिंसा के सम्बन्ध में एक छोटी-सी प्रतिज्ञा का भी ऐसा प्रभाव देखकर यमपाल ने जीवन भर के लिए हिंसा का त्याग करके अहिंसाणुव्रत धारण किया ।

इस प्रकार व्रत के प्रभाव से यमपाल जैसा चाण्डाल भी देव और राजा से सम्मानित होकर स्वर्ग में गया ।

शास्त्रकार कहते हैं— "अहिंसा के एक अंश का पालन करने से भी चाण्डाल जैसे जीव ने ऐसा फल पाया तो सम्पूर्ण वीतराग रूप श्रेष्ठ अहिंसा का पालन करने से मोक्ष रूपी उत्तम फल मिले— उसकी महिमा कौन कर सकता है — ऐसा जानकर हे भव्यजीवो ! तुम जिनधर्म की अहिंसा का पालन करो ।"

*समय के पहले और भाग्य से अधिक कभी किसी को कुछ नहीं मिलता।*

*जब ऋषभदेव को आहार प्राप्ति की उपादानगत योग्यता पक गई तो आहार देनेवालों को भी जातिस्मरण हो गया। इससे तो यही सिद्ध होता है कि जब अपनी अन्तर से तैयारी हो तो निमित्त तो हाजिर ही रहता है, पर जब हमारी पात्रता ही न पके तो निमित्त भी नहीं मिलते। उपादानगत योग्यता और निमित्तों का सहज ऐसा ही संयोग है।*

*अत: निमित्तों को दोष देना ठीक नहीं है, अपनी पात्रता का विचार करना ही कल्याणकारी है।*

***–पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ ५८***

## 2

# सत्य व्रत

सत्पुरुषों ने सत्य, अचौर्य आदि व्रतों का वर्ण अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए किया है, वहाँ सर्व जीवों का हित करने वाला और श्रेष्ठ व्रत की सिद्धि का कारण उत्तम सत्य कहलाता है। जो धर्मात्मा श्रावक स्थूल असत्य न बोलता, न बुलवाता और न बोलने वाले का अनुमोदन करता है, उसे सत्याणुव्रत होता है।

सत्य को जानने वाले सद्बुद्धि गृहस्थों को सर्व जीवों का हित करने वाला मर्यादित वचन बोलना चाहिये, किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिये और सब जीवों के लिये सुख देने वाली भाषा बोलनी चाहिये।

हे भव्य! तू सदा सर्वदा ऐसे ही वचन बोल कि जिससे आत्मा का कल्याण हो, धर्म का कारण हो, यश देने वाला हो और सर्वथा पाप रहित हो। ज्ञानी जन हमेशा जिनागम के अनुसार अनिंद्य, मधुर, प्रशंसनीय तथा विकथादि से रहित और धर्मोपदेश से भरे हुए वचन ही बोलते हैं।

श्रावक के द्वारा दूसरों के हित के लिए कदाचित् कठोर वचन कभी कहने में आये अथवा दूसरे जीवों की रक्षा के लिए (परन्तु किसी का अहित न हो, इस रीति से) कथंचित् असत्य भी कहने में आये तो वह भी (उसका अहिंसा का ही अभिप्राय होने से) सत्य की कोटि में आ जाता है और जो दूसरों को दुःख देने वाला हो, सुनते ही भय से दुःख उत्पन्न करने वाला हो, जीवों की मृत्यु का अथवा बन्ध का कारण हो ऐसे सत्य वचन को भी विद्वान असत्य ही कहते हैं। जिस प्रकार कषाय की उत्पत्ति भी हिंसा है, उसी प्रकार कषाय सहित वचन भी असत्य है।

सत्य अमृत तुल्य है, उससे धर्म की प्राप्ति होती है । अहो, इस जगत में सर्व जीवों को सुख देने वाला, सभी का भला करने वाला और प्रशंसनीय सत्य वचन रूपी अमृत विद्यमान है तो फिर भला ऐसा कौन बुद्धिमान होगा ? जो झूठा, कठोर और निंद्य वचन बोलना उचित समझेगा ? अरे! वीतरागी वचन तो शान्त रस से भरे हुए हैं......वही सत्य हैं।

हे मित्र ! प्राण जाने का प्रसंग आ जावे तो भी तू निंद्य, धर्म-विरुद्ध तथा कषाय के पोषक कठोर वचन नहीं बोलना । जो वचन कर्कश, कठोर और बुरे हैं, जो पाप के उपदेश से भरे हुए हैं और धर्म से रहित हैं; तथा जो वचन क्रोध उत्पन्न करने वाले हैं, जो जीवों को भय उत्पन्न करने वाले हैं, जो विषय-कषाय के पोषक हैं, जो देव-गुरु-धर्म में दोष लगाने वाले हैं, जो शास्त्र-विरुद्ध हैं, धर्म-विरुद्ध हैं तथा देश-विरुद्ध हैं; जो नीच लोगों द्वारा ही बोले गये हैं— इत्यादि ऐसे सर्व प्रकार के असत्य वचनों को हे मित्र! तू सर्वथा छोड़ दे, मरण आये तो भी ऐसे निंद्य-असत्य वचन नहीं कहना ।

असत्य वचन बोलने से जीवों का किस प्रकार बुरा होता है, इसे हम वसुराजा की कहानी से समझें—

## वसुराजा की कहानी:-

स्वस्तिकावती नाम की एक सुन्दर नगरी थी। उसके राजा का नाम विश्वावसु था । विश्वावसु की रानी का नाम श्रीमती था । उनका एक वसु नाम का पुत्र था ।

वहीं एक क्षीरकदम्ब गुरु रहता था, वह बड़ा सुचरित्र और सरल स्वभावी था । जिनेन्द्र भगवान का वह भक्त था और पूजा-विधान इत्यादि जैन क्रियाओं द्वारा गृहस्थों के लिए शान्ति-सुखार्थ अनुष्ठान करना उसका काम था । उसकी पत्नि का नाम स्वस्तिमती था । उनका पर्वत नाम का एक पुत्र था। दुर्भाग्य से वह पापी और दुर्व्यसनी था।

कर्मों की कैसी विचित्रता होती है ? पिता कितना धर्मात्मा और सरल स्वभावी तथा उसका पुत्र उतना ही पापी और दुराचारी ।

इसी समय, एक अन्य नगर से ब्राह्मण पुत्र नारद, जो कि निरभिमानी और सच्चा जिनभक्त था, क्षीरकदम्ब गुरु के पास पढ़ने के लिए आया।

राजकुमार वसु, पर्वत और नारद तीनों क्षीरकदम्ब गुरु के पास एक साथ पढ़ने लगे । वसु और नारद की बुद्धि अच्छी थी, इसलिए वे थोड़े ही समय में अच्छे विद्वान हो गये । रहा पर्वत, सो एक तो उसकी बुद्धि पापानुगामी थी, उस पर भी पाप के उदय से उसे कुछ आता-जाता नहीं था ।

अपने पुत्र की यह हालत देख कर उसकी माता ने एक दिन गुस्सा होकर अपने पति से कहा– "जान पड़ता है, आप बाहर के लड़कों को अच्छी तरह पढ़ाते हो और अपने स्वयं के पुत्र पर आपका ध्यान नहीं है, उसे आप अच्छी तरह नहीं पढ़ाते । इसीलिए उसे इतने दिनों तक पढ़ने पर भी कुछ नहीं आया ।"

क्षीरकदम्ब ने कहा–"इसमें मेरा कोई दोष नहीं है । मैं तो सभी को एक जैसा ही पढ़ाता हूँ । तुम्हारा पुत्र ही मूर्ख है, पापी है, वह कुछ समझता ही नहीं । अब मैं इसके लिए क्या करूँ ?"

एक दिन की बात है कि वसु से कोई ऐसा अपराध बन गया, जिससे उसे गुरु ने बहुत मारा । उस समय स्वस्तिमती ने बीच में पड़ कर वसु को बचा लिया । वसु ने अपने को बचाने वाली गुरु-माता से कहा–"हे माता, तुमने मुझे बचाया, इससे मैं बड़ा उपकृत हुआ। कहो, आपको क्या चाहिये ? वही लाकर मैं आपको प्रदान करूँ ।"

स्वस्तिमती ने उत्तर में राजकुमार से कहा– "पुत्र, इस समय तो मुझे कुछ आवश्यकता नहीं है, पर जब जरूरत होगी तब माँग लूँगी ।"

एक दिन क्षीरकदम्ब के मन में प्रकृति की शोभा देखने की उत्कण्ठा हुई । वह अपने साथ तीनों शिष्यों को भी इसलिए साथ ले गया कि उन्हें वहीं पाठ भी पढ़ा दूँगा । वे एक सुन्दर बगीचे में पहुँचे। वहाँ कोई अच्छा पवित्र स्थान देख कर वह अपने शिष्यों को पढ़ाने लगा । उसी बगीचे में दो ऋद्धिधारी महामुनि आपस में धर्म की चर्चा कर रहे थे । उनमें से छोटे मुनि ने क्षीरकदम्ब को पाठ पढ़ाते देख कर बड़े मुनिराज से कहा— "प्रभो ! देखिये, कैसे पवित्र स्थान में गुरु अपने शिष्यों को पढ़ा रहा है ।"

गुरु ने कहा — "अच्छा है , पर देखो, इनमें से दो पुण्यात्मा हैं, वे तो स्वर्ग जायेंगे और दो पाप के उदय से नरक के दु:ख भोगेंगे।"

मुनि के वचन क्षीरकदम्ब ने सुन लिए । वह अपने शिष्यों को घर भेज कर मुनिराज के पास गया । उन्हें नमस्कार कर उसने पूछा— "हे भगवन् ! कृपा करके मुझे बताइये कि हम में से कौन दो स्वर्ग जायेंगे और कौन दो नरक जायेंगे ?"

मुनिराज ने क्षीरकदम्ब से कहा— "हे भव्य ! स्वर्ग जाने वालों में एक तो तुम स्वयं हो और दूसरा धर्मात्मा नारद है तथा वसु और पर्वत पाप परिणामों के फल स्वरूप पाप के उदय से नरक जायेंगे।"

क्षीरकदम्ब मुनिराज को नमस्कार कर अपने घर आया । उसे इस बात का बड़ा दु:ख हुआ कि उसका पुत्र नरक में जायेगा, क्योंकि मुनियों के वचन कदापि मिथ्या नहीं होते ।

कुछ दिन पश्चात्, कोई ऐसा कारण दीख पड़ा, जिससे वसु के पिता विश्वावसु अपना राज-काज वसु को सौंप कर नग्न दिगम्बर साधु हो गये । राज्य कार्य अब वसु करने लगा । उसके न्याय-सिंहासन को स्फटिक मणि के पाये लगे हुए थे, जिससे ऐसा जान पड़ता था, मानो वह सिंहासन आकाश में ठहरा हुआ हो । उसी पर बैठ कर वह राज्य-शासन चलाता था ।

"वसु राजा बड़ा ही सत्यवादी है, उसकी सत्यता के प्रभाव से उसका न्यायसिंहासन आकाश में ठहरा हुआ है" ऐसी चर्चा पूरे राज्य भर में फैला दी गई थी ।

इधर, सम्यग्दृष्टि जिनभक्त क्षीरकदम्ब संसार से विरक्त होकर दिगम्बर दीक्षा धारण कर अपनी शक्ति के अनुसार तपस्या कर अन्त में समाधि मरण द्वारा स्वर्ग गये ।

पिता का अध्यापन कार्य पद अब पर्वत को मिला । पर्वत को जितनी बुद्धि थी, जितना ज्ञान था, उसके अनुकूल वह पिता के विद्यार्थियों को पढ़ाने लगा । उसी के द्वारा उसका निर्वाह होता था ।

क्षीरकदम्ब के साधु होने के बाद नारद भी वहाँ से कहीं अन्यत्र चला गया । वर्षों तक देश-विदेश में धर्म प्रचार करता हुआ घूमा । घूमते-फिरते एक बार पुनः स्वस्तिकावती में अपने गुरु-पुत्र पर्वत से मिलने आया।

पर्वत उस समय अपने शिष्यों को पढ़ा रहा था । साधारण कुशल-क्षेम पूछने के बाद नारद वहीं बैठ गया और पर्वत का अध्यापन-कार्य देखने लगा । प्रकरण कर्मकाण्ड का था । वहाँ एक श्रुति थी — 'अजैर्यष्टव्यमिति', पर्वत ने उसका अर्थ किया कि बकरों की बली देकर होम करना चाहिये ।

लेकिन उसमें बाधा देकर नारद ने तुरन्त कहा— "नहीं, इस श्रुति का अर्थ यह नहीं है । गुरुजी ने तो हमें इसका अर्थ ऐसा बताया था कि तीन वर्ष पुराने धान से, जिसमें जीव उत्पन्न होने की शक्ति समाप्त हो जाती है, उससे होम करना चाहिये ।"

पर्वत ने अपनी गलती तो स्वीकार नहीं की, उलटे दुराग्रह के वश होकर उसने कहा— "नहीं, तुम्हारा कहना सर्वथा मिथ्या है । असल में 'अज' शब्द का अर्थ बकरा ही होता है और उसी से होम करना चाहिये।"

जिसे दुर्गति में जाना होता है, वही पुरुष जान-बूझकर ऐसा झूठ बोलता है ।

तब दोनों में सच्चा कौन है, इसका निर्णय करने के लिए उन्होंने राजा वसु को मध्यस्थ चुना । तथा परस्पर में प्रतिज्ञा की कि जिसका कहना झूठ सिद्ध होगा, उसकी जबान काट दी जायेगी । पर्वत की माँ को इस विवाद पर परस्पर प्रतिज्ञा की बात मालूम हुई । वह जानती थी की पर्वत ने उस श्रुति का उलटा अर्थ करके असत्य वचन कहा है और वसु राजा का निर्णय होने के पश्चात् पर्वत की जबान काट दी जायेगी ।

पुत्र का पक्ष असत्य होने पर भी पुत्र-प्रेम से वह अपने कर्तव्य से विचलित हुई । वह राजा वसु के पास पहुँची और उससे बोली– "पुत्र, तुम्हें याद होगा कि मेरा एक वर तुमसे पाना बाकी है । आज उसकी मुझे जरूरत आ पड़ी है । इसलिए अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह कर मुझे कृतार्थ करो । उसके निर्णय के लिए उन्होंने तुम्हें मध्यस्थ चुना है । इसलिए मैं तुम्हें कहने को आई हूँ कि तुम पर्वत के पक्ष का समर्थन करना ।"

जो स्वयं पापी होते हैं, वे दूसरों को भी पापी बना डालते हैं । जैसे सर्प स्वयं जहरीला होता है और जिसे काटता है, उसे भी विषयुक्त कर देता है। पापियों का यह स्वभाव ही होता है ।

राजसभा लगी हुई थी । बड़े-बड़े कर्मचारी यथास्थान बैठे थे। राजा वसु भी एक अत्यन्त सुन्दर रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठा हुआ था । इतने में पर्वत और नारद अपना न्याय कराने के लिए राजसभा में आये । दोनों ने अपना-अपना कथन सुना कर अन्त में किसका सत्य है और गुरुजी ने हमें 'अजैर्यष्टव्यम्' इसका क्या अर्थ समझाया था, इसका निर्णय करने का भार वसु पर छोड़ दिया ।

वसु उक्त शब्द का अर्थ जानता था और यदि वह चाहता तो

सत्य की रक्षा कर सकता था, लेकिन उसे गुरु-पत्नि के द्वारा माँगे हुए वर ने सत्य मार्ग से ढकेल कर हठाग्रही और पक्षपाती बना दिया। अत: निर्णय देते हुए उसने कहा– "जो पर्वत कहता है, वही सत्य है।"

प्रकृति को उसका यह असत्य वचन सहन नहीं हुआ। उसका परिणाम यह हुआ कि राजा वसु जिस स्फटिक के सिंहासन पर बैठ

कर प्रतिदिन राजकार्य करता था और लोगों को यह कहा करता था कि मेरे सत्य के प्रभाव से मेरा सिंहासन आकाश में ठहरा हुआ है, वही सिंहासन वसु की असत्यता से टूट पड़ा है और जमीन में धंस गया । उसके साथ ही वसु भी पृथ्वी में जा धंसा । अर्थात् वसु काल के सुपुर्द हुआ और मर कर वह सातवें नरक में गया ।

सच है, जिसका हृदय दुष्ट और पापी होता है, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है और अन्त में उसे कुगति में जाना पड़ता है । इसलिए जो अच्छे पुरुष हैं और पाप से बचना चाहते हैं, उन्हें प्राणों का संकट आने पर भी कभी झूठ नहीं बोलना चाहिये ।

पर्वत की दुष्टता देख कर प्रजा के लोगों ने उसे राज्य के बाहर निकाल दिया और नारद का बहुत आदर-सत्कार किया ।

इस प्रसंग से नारद की जिनधर्म पर श्रद्धा और भी दृढ़ हो गई ।

अन्त में संसार से उदासीन होकर उसने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। मुनि होकर उसने अनेक जीवों को कल्याण के मार्ग में लगाया और तपस्या द्वारा पवित्र रत्नत्रय की आराधना कर आयु के अन्त में सर्वार्थसिद्धि गया ।

इस प्रकार असत्य मार्ग पर चलने वालों का अहित होता है और वे कुगति को प्राप्त होते हैं ।

मिथ्या मार्ग का उपदेश अनेक जीवों का अहित करने वाला होने से महान असत्य है ।

दुष्ट जीवों ने असत्य वचनों से कुशास्त्र रच कर लोगों को हिंसक और धर्म के विरुद्ध कर दिया है । कुशास्त्र रचने वाले जीवों ने असत्य मार्ग की पुष्टि के द्वारा स्व-पर का अहित किया है ।

असत्य वचन के प्रभाव से ही जिन-शासन में भी अनेक मत-मतान्तर उत्पन्न हुए हैं ।

जिन-शासन के अनुसार सत्य मार्ग के उपदेश के समान महान सत्य दूसरा कोई नहीं । वह स्व-पर समस्त जीवों का हित करने वाला है और अहिंसादि का पोषक है ।

इसलिए हे भव्य जीवो ! ऐसे सत्य जिनधर्म को जान कर, तुम उसका आदर करके जिनमार्ग के अनुसार सत्य ही बोलो । तत्त्व के यथार्थ ज्ञान पूर्वक ही सत्य व्रत का बराबर पालन हो सकता है।

नीच मनुष्य का मुँह साँप के बिल के समान है, उसमें साँप के समान जीभ रहती है । वह असत्य रूपी हलाहल जहर से अनेक जीवों को नष्ट करती है, अनेक जीवों का अहित करती है ।

अरे रे ! विष का भक्षण कर लेना अच्छा, लेकिन अपनी जिह्वा से हिंसा करने वाला, मिथ्या मार्ग का पोषक तथा पाप और दुःख उत्पन्न करने वाला असत्य वचन कभी नहीं बोलना चाहिये ।

इसलिए हे मित्र ! जहर जैसे इस असत्य को तू शीघ्रता से छोड़ दे । असत्य वचन रूपी पाप के फल में जीव गूंगा-बहरा होता है और सत्य के सेवन से ज्ञान, विद्या, चरित्र आदि बढ़ते हैं ।

*मृत्यु एक अनिवार्य तथ्य है, उसे किसी भी प्रकार टाला नहीं जा सकता। उसे सहज भाव में स्वीकार कर लेने में ही शान्ति है, आनन्द है। सत्य को स्वीकार करना ही सन्मार्ग है।*

***–बारह भावना : एक अनुशीलन, पृष्ठ २५***

*हिंसादि पापों के त्यागरूप मुनि-श्रावक धर्म अहिंसादिरूप है। अहिंसादिरूप चारित्र का आशय मात्र बाह्य हिंसादि प्रवृत्तियों के त्यागरूप ही नहीं, अपितु अंतरंग कषायशक्ति के अभावस्वरूप है, क्योंकि सम्यक्चारित्र का विरोधी कषायभाव है।*

***–तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ, पृष्ठ १६७***

③

# अचौर्य व्रत

जो अनन्त गुणों के सागर हैं और अनन्त गुणों के प्रदाता हैं—ऐसे श्री अनन्त-जिन को अनन्त गुणों की प्रप्ति के लिए नमस्कार करके, अहिंसा व्रत रक्षा के हेतुरूप अचौर्य व्रत कहा जाता है ।

हे भव्य ! बिना दिये अन्य के धन-धान्य वगैरह का ग्रहण करना चोरी है, उसका त्याग अचौर्य है । बिना दिये हुए अन्य का धन लेने की वृत्ति तू दूर से ही छोड़ दे, क्योंकि साँप को पकड़ना तो अच्छा है, परन्तु दूसरों का धन ले लेना ठीक नहीं है । भीख माँग कर पेट भरना अच्छा है, परन्तु अन्य का द्रव्य चुरा कर घी-शक्कर खाना अच्छा नहीं है ।

चोरी का पाप करने वाले जीव का मन स्वस्थ नहीं रह सकता। अरे, चोर को शान्ति कहाँ से होगी ? उसका चित्त हमेशा शंकाशील रहता है । चैतन्य की शान्ति के अपार निधान अपनी आत्मा में झूलने वाले धर्मी को चोरी का तीव्र कषाय भाव कैसा ?

तीन लोक में उत्तम लक्ष्मी पुण्यवानों के घर में नीति मार्ग से ही आती है । चक्रवर्तित्व आदि विभूति कोई चोरी करके किसी को नहीं मिलती। धन के लोभ से सदोष वस्तुओं (अभक्ष्य वगैरह) का व्यापार करना उचित नहीं । धन का नाश होने से संसारी जीवों को मरण जैसा दुःख होता है। धन उसे प्राण जैसा प्यारा है, इसलिए जिसने दूसरों का धन चोरी किया, उसने उसके प्राणों की ही चोरी की, इससे उसे भाव-हिंसा हुई । इसलिए हे बुद्धिमान ! हिंसा पाप से बचने के लिए तू चोरी छोड़ दे ।

अरे, ऐसे वे कौन बुद्धिमान हैं कि जो थोड़े धन के लिए चोरी का महापाप करके नरकादि दुर्गति में भ्रमें ? यदि कुटुम्बी जनों के

उपभोग के लिए भी चोरी का पाप करता है तो भी उस पाप का फल भोगने नरक में तो अकेला ही जाता है। जिसके लिए चोरी की, वह कुटुम्ब कोई साथ में नहीं जाता— इसे समझ कर हे भव्य ! तू विष समान पाप-क्लेश तथा अपयश के कारण रूप चोरी को छोड़.....। हरण करना छोड़ और सन्तोष पूर्वक अचौर्य व्रत का पालन कर। अरे ! दूसरों के द्वारा चुराये हुए धन को भी तू अपने घर में मत रख।

अचौर्य व्रत का पालन करने में वारिषेण राजपुत्र तो प्रसिद्ध हैं ही, तथापि चोरी करके दुर्गति में जाने वाले श्रीभूति पुरोहित का यहाँ व्याख्यान करना प्रसंगोचित होगा।

## श्रीभूति पुरोहित की कहानी:–

सिंहपुर नाम का सुन्दर नगर था। उसका राजा सिंहसेन था। सिंहसेन की रानी का नाम रामदत्ता था। राजा बुद्धिमान और धर्म-परायण था। रानी भी बड़ी चतुर थी। उस राज्य के पुरोहित का नाम श्रीभूति था।

श्रीभूति ने मायाचारी से अपने सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध कर रखी थी कि मैं बड़ा सत्य बोलने वाला हूँ। बेचारे भोले लोग उस कपटी के विश्वास में आकर अनेक बार ठगे जाते थे, परन्तु उसके कपट का पता किसी को नहीं लग पाता था।

ऐसे ही एक दिन एक विदेशी उसके चंगुल में आ फँसा। उसका नाम समुद्रदत्त था। समुद्रदत्त की इच्छा व्यापरार्थ विदेश जाने की हुई। उसके पास बहुत कीमती रत्न थे। उसने श्रीभूति की प्रसिद्धि सुन रखी थी। इसलिए उसके पास वे पाँच रत्न रख कर वह व्यापारार्थ रत्नद्वीप के लिए रवाना हो गया। वहाँ कई दिनों तक ठहर कर उसने बहुत धन कमाया। जब वह वापिस लौट कर जहाज से अपने देश की ओर आ रहा था, तब पाप कर्म के उदय से उसका जहाज एक

टापू से टकरा कर फट गया। ठीक ही है कि बिना पुण्य के कोई कार्य सिद्ध नहीं होता ।

समुद्रदत्त भाग्य से बच कर निकल तो आया, लेकिन सारा धन समुद्र में डूब गया । जब वह श्रीभूति पुरोहित के पास रखे हुए अपने रत्न लेने पहुँचा तो श्रीभूति ने उसे दुतकार दिया और रत्नों से इंकार कर दिया । बेचारा समुद्रदत्त तो श्रीभूति की बातें सुन कर हतबुद्धि हो गया। साथ ही श्रीभूति ने नौकरों द्वारा समुद्रदत्त को घर से बाहर निकलवा दिया।

नीतिकार ने ठीक ही लिखा है—"जो लोग पापी होते हैं, जिन्हें दूसरों के धन की चाह होती है, ऐसे दुष्ट पुरुष ऐसा कौनसा बुरा काम है, जिसे वे लोभ के वश होकर न करते हों ?"

श्रीभूति ऐसे ही पापियों में से एक था । पापी श्रीभूति से ठगाया गया बेचारा समुद्रदत्त सचमुच पागल हो गया— "श्रीभूति मेरे रत्न नहीं देता"— ऐसा दिन-रात चिल्लाने लगा ।

एक दिन महारानी सोमदत्ता के मन में विचार आया कि इसमें कुछ अन्य ही वास्तविकता हो सकती है । उसने महाराज से कहा—"आप उसे बुला कर पूछिये कि वास्तव में उसके ऐसे चिल्लाने का रहस्य क्या है ?"

रानी के कहे अनुसार राजा ने समुद्रदत्त को बुला कर सब बातें पूछीं । समुद्रदत्त ने यथार्थ घटना कह सुनाई । सुन कर रानी ने इसका भेद खुलवाने का विचार मन में ठान लिया ।

दूसरे दिन रानी ने पुरोहितजी को अपने अन्तःपुर में बुलाया। आदर-सत्कार करने के बाद रानी ने उससे इधर-उधर की बातें की, जिससे पुरोहितजी प्रसन्नता का अनुभव करने लगे । पुरोहितजी को खुश देख कर रानी ने कहा— "सुनती हूँ कि आप पासे खेलने में बड़े चतुर और बुद्धिमान हैं । मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी कि आपके

साथ खेल कर मैं भी एकबार देखूँ कि आप किस चतुराई से खेलते हैं।''

यह कह कर रानी ने एक दासी को बुलाकर चौपड़ लाने की आज्ञा दी । पुरोहितजी प्रथम तो कुछ हड़बड़ाये, लेकिन रानी की आज्ञा वे टाल नहीं सके । दासी ने चौपड़ लाकर रानी के सामने रख दी। आखिर उन्हें खेलना ही पड़ा, लेकिन रानी ने पहली ही बाजी में पुरोहितजी की अँगूठी जीत ली ।

रानी के द्वारा पहले ही समझाये अनुसार एक दासी उस अँगूठी को लेकर पुरोहितजी के घर गई और थोड़ी देर पश्चात् कुछ निराश-सी होकर लौट आई ।,इधर खेल शुरु ही था । दासी को निराश देख कर रानी समझ गई कि अभी काम नहीं बना । अब की बार उसने पुरोहितजी का जनेऊ जीत लिया और किसी बहाने से उस दासी को बुला कर चुपके से जनेऊ (यज्ञोपवीत) देकर भेज दिया । दासी के वापिस आने तक रानी पुरोहितजी को खेल में लगाये रही । इतने में दासी आ गई । उसे प्रसन्न देख कर रानी ने अपना मनोरथ पूर्ण हुआ समझा । उसने उसी समय खेल बन्द कर दिया और पुरोहितजी को वापिस जाने की आज्ञा दी ।

बात असल में यह थी कि रानी ने पुरोहितजी की जीती हुई अँगूठी देकर दासी को पत्नि के पास समुद्रदत्त के रत्न लेने को भेजा, पर जब पुरोहितजी की पत्नि ने अंगूठी देख कर भी रत्न नहीं दिये, तब यज्ञोपवीत जीत लिया और उसे दासी के हाथ देकर फिर भेजा। अबकी बार रानी का मनोरथ सिद्ध हुआ । पुरोहितजी की पत्नि ने दासी की बातों से डर कर झटपट रत्नों को निकाल दासी के हवाले कर दिया । दासी ने रत्न लेकर रानी को दे दिये ।

रानी ने रत्न लेकर महाराज के सामने रख दिये । महाराज ने उसी समय श्रीभूति पुरोहित को गिरफ्तार करने की सिपाहियों को आज्ञा दी । बेचारे पुरोहितजी अभी महल के बाहर भी नहीं जा पाये थे कि सिपाहियों ने जाकर उनके हाथों में हथकड़ी डाल दी और उन्हें दरबार में लाकर उपस्थित कर दिया । राजा ने समुद्रदत्त को बुलाया और उससे उसके रत्नों को अन्य रत्नों के साथ पहचानने के लिए कहा। समुद्रदत्त ने अपने रत्न पहचान लिये ।

पुरोहितजी की ऐसी कपट नीति को देख कर महाराज बहुत क्रोधित हुए और उन्होंने पुरोहितजी के लिए तीन प्रकार की सजायें नियत कीं। उनमें से जिसे वह पसन्द करे, उसे स्वीकार करने को कहा। वे सजायें थीं— १. इसका सर्वस्व हरण कर लिया जाये तथा इसको देश-निकाला दे दिया जाय । २. पहलवानों के द्वारा बत्तीस मुक्के इस पर पड़ें । ३. थाली में भरे हुए गोबर को यह खा जाय ।

श्रीभूति ने मुक्के खाना पसन्द किया । लेकिन दस-पन्द्रह मुक्के खाने पर पुरोहितजी की अकल ठिकाने आ गई । वे एकदम चक्कर खाकर ऐसे गिरे कि उठे ही नहीं । महा आर्तध्यान से उनकी मृत्यु होने से वे दुर्गति में गये ।

इसलिए जो भव्य पुरुष हैं, उन्हें उचित है कि वे चोरी को अत्यन्त दुःख का कारण समझ कर उसका परित्याग करें और अपनी बुद्धि को पवित्र जिनधर्म की ओर लगावें, जो ऐसे महापापों से बचाने वाला है । ०

# 4

# ब्रह्मचर्य व्रत

ब्रह्मचर्य नाम के चौथे अणुव्रत धारी श्रावक को परस्त्री का सर्वथा त्याग होता है । अपनी पत्नि के अलावा अन्य समस्त स्त्रियों को जो माता, बहिन और पुत्री के समान जानता है, उसे स्थूल ब्रह्मचर्य होता है । इस ब्रह्मचर्य का सेवन करके जीवों को विषयों से विरक्त होना चाहिये। बुद्धिमान पुरुषों को परस्त्री का एक क्षण भी संसर्ग नहीं करना चाहिये। अरे, इस लोक में प्राणों का हरण करने वाली ऐसी क्रोधित सर्पिणी का आलिंगन करना अच्छा नहीं । यह महानिंद्य काम है और महादु:ख देने वाला है । मूर्ख लोगों को परस्त्री की तो प्राप्ति हो या न हो, परन्तु परस्त्री की इच्छा और चिन्ता से ही उसे महान पाप लगता रहता है, उसे हमेशा मरण की आशंका लगी रहती है । उस मूर्ख की बुद्धि नष्ट हो जाने के कारण, परस्त्री सेवन में दु:ख होने पर भी उसमें उसे सुख लगता है और उसका चित्त हमेशा कलुषित रहता है ।

अरे रे ! विषयों तथा कषायों में मग्न जीवों को शान्ति कहाँ से हो ? परस्त्री सेवन के पाप से उस पापी जीव को तो नरक में अग्नि से धगधगाती अत्यन्त लाल लोहे की पुतली के साथ दोनों हाथ फैला कर आलिंगन करना पड़ता है, उससे वह जल जाता है और महा दु:ख पाता है ।

विषयों के सेवन की कामाग्नि कभी शान्त नहीं होती, वह तो ब्रह्मचर्य रूपी शीतल जल से ही शान्त होती है । जो अधम पुरुष कामज्वर रूपी रोग को परस्त्री रूपी औषधि से मिटाना चाहता है, वह तो अग्नि में तेल डालने जैसी मूर्खता करता है ।

अरे, हलाहल जहर खा लेना अच्छा, समुद्र में डूब जाना अच्छा, परन्तु शील बिना मनुष्य का जीवन अच्छा नहीं होता । इसलिए हे भव्य! हृदय में वैराग्य धारण करके, शीलव्रत से तू अपनी आत्मा को सुशोभित कर और परस्त्री का सर्वथा त्याग कर ।

धर्म का आचरण करने वाला प्राणी हीन जाति का हो तो भी शोभता है और स्वर्ग को जाता है, परन्तु धर्म-हीन प्राणी नहीं शोभता और दुर्गति में जाता है । शील बिना विषयासक्त प्राणी जीता हो तो भी मरे जैसा है, क्योंकि जैसे मुर्दे में कोई गुण नहीं होते, उसी प्रकार शील रहित जीव में कोई गुण नहीं होते ।

जो मूर्ख प्राणी स्वस्त्री को छोड़ कर परस्त्री का सेवन करता है, वह अपनी थाली का भोजन छोड़ कर चाण्डाल के घर की जूठन खाने जाता है । इसे समझ कर हे मित्र ! तू स्वस्त्री में सन्तोष कर और बाद में हमेशा के लिए स्त्री मात्र का त्याग कर । जो विद्वान एकाग्र चित्त से शील धर्म का पालन करता है, उसके ऊपर मुक्ति-स्त्री प्रसन्न होती है। एक दिन ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला जीव नौ लाख जीवों की हिंसा से बचता है ।

इसी प्रकार स्त्रियों में भी जो स्त्री शील रूपी आभूषणों को धारण करती है, वह जगत में शोभा पाती है, प्रशंसनीय होती है । जिसका उत्तम शील-भण्डार इन्द्रिय रूपी चोरों द्वारा लूटा नहीं गया, वह शीलवान प्राणी धन्य है । अनेक संकट आने पर भी जो अपने शीलव्रत को नहीं छोड़ता वह धर्मात्मा प्रशंसनीय है । अधिक क्या कहें ? हे मित्र ! तू शीलव्रत का सर्व प्रकार से पालन कर ।

## नीली सुन्दरी की कहानी:-

लाट देश में जिनदत्त सेठ की पुत्री का नाम नीली था वह सेठ जिनधर्मी था और जिनधर्मी के अलावा अन्य धर्मियों से अपनी पुत्री ब्याहना नहीं चाहता था ।

इसी देश के समुद्रदत्त सेठ का पुत्र सागरदत्त एक बार नीली का रूप देख कर मोहित हो गया और उसने उसके साथ शादी करने की इच्छा व्यक्त की, परन्तु वह जिनमत का द्वेषी, विधर्मी होने से जिनदत्त सेठ उसके साथ नीली की शादी करने को तैयार नहीं था ।

तब उस सागरदत्त ने कपट पूर्वक जिनधर्म स्वीकार करने का नाटक किया और श्रावक जैसा आचरण करने लगा । अतः सागरदत्त

ने मिथ्या मार्ग छोड़ दिया और जिनधर्म धारण किया— ऐसा समझ कर जिनदत्त ने नीली की शादी उसके साथ कर दी ।

शादी का प्रयोजन सिद्ध होने पर सागरदत्त फिर से कुमार्गगामी बन गया, उसने नीली को भी उसके पिता के घर जाने से रोका...... इससे जिनदत्त सेठ को बहुत पश्चाताप हुआ और उसने अपनी पुत्री को मानो कुएँ में डाल दिया हो— ऐसा उसे दुःख हुआ ।

सच है, पुत्री की विधर्मी के साथ शादी कर देने से अच्छा है कि उसे कुयें में डाल देना; क्योंकि वह उससे भी अधिक खराब है। क्योंकि मिथ्यात्व के संस्कार से अनन्त भवों का बुरा होता है । जो अपनी पुत्री को विधर्मियों को देते हैं, वे उनका बहुत बड़ा अहित करते हैं, उन्हें जिनधर्म की श्रद्धा नहीं होती । नीली को भी इस बात का दुःख हुआ, परन्तु वह स्वयं दृढ़ता से जिनधर्म का पालन करती रही । सच है, जिसे जिनधर्म का सच्चा रंग लगा है, उसे किसी भी प्रसंग में उसका उत्तम संस्कार नहीं छूटता । वह भले प्राण त्याग दे, परन्तु जिनधर्म को नहीं छोड़ता ।

नीली के ससुर समुद्रदत्त ने विचार किया— "हमारे गुरुओं के संसर्ग से नीली अपना जिनधर्म छोड़ देगी और हमारा धर्म अंगीकार कर लेगी ।" ऐसा विचार करके उसने अपने मत के भिक्षुओं को भोजन के लिये घर में निमंत्रित किया, परन्तु नीली ने युक्ति से उनकी परीक्षा करके उन्हें मिथ्या ठहराया और अपने जिनधर्म में दृढ़ रही । अपने गुरुओं का ऐसा अपमान होने पर समुद्रदत्त के कुटुम्बी-जन नीली के प्रति द्वेष-बुद्धि रखने लगे, उसे अनेक प्रकार से परेशान करने लगे और उसकी ननदों ने तो उसके ऊपर परपुरुष के साथ व्यभिचार का कलंक तक लगा दिया और यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध करने लगीं ।

अरे रे, निर्दोष शीलवती नीली के ऊपर पाप कर्म के उदय से ऐसे बड़े दोषों का झूठा कलंक लगा । नीली तो धैर्य पूर्वक जिनमन्दिर में भगवान के पास पहुँच गई और जब तक यह कलंक दूर नहीं होगा, तब तक मैं भोजन नहीं करूँगी तथा अनशन व्रत धारण करूँगी— ऐसी प्रतिज्ञा करके जिनेन्द्र देव के सामने बैठ गई और अन्तरंग में जिनेन्द्र देव के गुणों का स्मरण करके उनका चिन्तवन करने लगी ।

शीलवती नारी पर कलंक कुदरत कैसे देख सकती थी ? उसके शील के प्रभाव से उस नगर के रक्षक देवता वहाँ आये और उन्होंने नीली से कहा —"हे महासती ! तू प्राण त्याग न कर, तेरा कलंक सुबह ही दूर होगा.... इसलिए तू चिन्ता न कर ।"

उन देवताओं ने राजा को भी स्वप्न में एक बात कही । बस, रात्रि हुई....नगर का दरवाजा बन्द हो गया। सुबह हुई...... लेकिन नगर का दरवाजा ऐसा जबरदस्त लग गया कि किसी प्रकार से भी नहीं खुला।

नगर रक्षक सिपाही घबड़ाते हुए राजा के पास पहुँचे और यह बात राजा को बताई तथा खोलने का उपाय पूँछा ।

राजा को रात में स्वप्न आया ही था कि नगर का दरवाजा बन्द हो जायेगा और शीलवती नीली का पैर लगने पर ही वह खुलेगा।

अनेक प्रयत्न करने पर भी दरवाजा नहीं खुला । आखिर में राजा की आज्ञा से मन्दिर से नीली को बुलवाया गया । णमोकार मन्त्र जपती हुई नीली वहाँ आई और उसके पैर का स्पर्श होते ही दरवाजा खुल गया...।

उसके शील का ऐसा प्रभाव देख कर सर्वत्र उसकी जय-जयकार होने लगी और उसका कलंक दूर हुआ ।

सागरदत्त ने भी प्रभावित होकर उससे क्षमा माँगी और जिनधर्म अंगीकार करके अपना हित किया ।

उसके बाद वह शीलवती नीली संसार से विरक्त होकर आर्यिका बनी...... राजगृही में समाधि-मरण किया, वहाँ आज भी एक स्थान 'नीलीबाई की गुफा' के नाम से प्रसिद्ध है और जगत को शील की महिमा बता रहा है ।

इसी प्रकार महासती सीताजी के शीलरत्न के प्रभाव से भी अग्निकुण्ड कमल का सरोवर बन गया था— यह कथा जगप्रसिद्ध है।

## सेठ सुदर्शन की कहानी :-

धर्मात्मा सेठ सुदर्शन की शीलव्रत में दृढ़ता भी जगत के लिए एक उदाहरण है । कामदेव जैसे उनके रूप पर मोहित हुई रानी ने उन्हें शील से विचलित करने के लिए उनके साथ नाना प्रकार की चेष्टायें की, उसमें सफल नहीं हुई तो सुदर्शन के ऊपर महान कलंक लगाया, परन्तु प्राणान्त जैसा उपसर्ग आने पर भी शील का मेरु सुदर्शन तो अचल ही रहा । अतीन्द्रिय भावना के अटूट किले में बैठ कर इन्द्रिय विषयों के प्रहारों से आत्मा की रक्षा की वाह, सुदर्शन........धन्य तेरा दर्शन ।

कामान्ध रानी ने क्रोधित होकर सुदर्शन के ऊपर अपना शील लूटने का भंयकर झूठा आरोप लगाया, परन्तु अडिग सुदर्शन को उसका क्या? वे तो वैराग्य भावना में मग्न थे और प्रतिज्ञा की थी कि यह उपसर्ग दूर होगा तो गृहवास छोड़ कर मुनि बन जाऊँगा ।

वैराग्य में लीन उन महात्मा को दुष्ट रानी के ऊपर क्रोध करने की अथवा अपना स्पष्टीकरण करने की फुर्सत भी कहाँ थी ? अत: रानी की बनावटी बात को सत्य मान कर राजा ने तो सुदर्शन को मौत की सजा दी ।

*शील की खातिर प्राणान्त का प्रसंग आये तो भले आये....।*

राजसेवक सेठ को मृत्यु दण्ड के स्थान पर ले गये बस, उन्हें मृत्यु दण्ड दिया ही जा रहा था कि शील के प्रताप से दैवी चमत्कार हुआ...आकाश से फूल बरसने लगे...पृथ्वी फटी...दैवी सिंहासन प्रगट हुआ....तलवार चलाने वाले के हाथ हवा में लटक गये...।

अरे, यह क्या ? मृत्यु अमृत का द्वार बन गई । आकाश में देवगण सेठ सुदर्शन के शील की जय-जयकार करने लगे ।

राजा ने सेठ से क्षमा माँगी और सम्मान पूर्वक नगर में आने की प्रार्थना की, परन्तु संसार से विरक्त सुदर्शन तो दीक्षा लेकर मुनि बन गये । मुनि होने के बाद भी उनके शील की अनेक बार कसौटी हुई, परन्तु वे अडिग रहे, उपद्रव होने पर भी आत्मा की साधना से नहीं डिगे ।

अन्त में सुदर्शन मुनि सम्पूर्ण अतीन्द्रिय भाव प्रगट करके केवलज्ञान पाकर मोक्ष गये । पटना शहर में (गुलजारबाग स्टेशन के सामने) उनका सिद्धिधाम आज भी जग में प्रसिद्ध है ।

## 5

# परिग्रह-परिमाण व्रत

जगत को शान्ति देने वाले और स्वयं शान्त स्वरूप सोलहवें भगवान शान्तिनाथ को नमस्कार करता हूँ ।

जो बुद्धिमान श्रावक लोभ कषाय दूर करके सन्तोष पूर्वक परिग्रह की मर्यादा का नियम करता है, उसे पाँचवा परिग्रह-परिमाण व्रत होता है।

गृहस्थों को पाप का आरम्भ घटाने के लिए परिग्रह का परिमाण करना चाहिये । खेती, घर, धन, स्त्री, वस्त्र आदि सम्पत्ति ममत्व बढ़ाने वाली है तथा उससे त्रस-स्थावर अनेक जीवों की हिंसा होती है, इसलिए सन्तोष को सिद्ध करने हेतु और अहिंसा का पालन करने हेतु हे भव्य! परिग्रह की ममता घटा कर उसकी मर्यादा का नियम कर ।

लोभ में आकुलता है और सन्तोष में सुख है ।

सन्तोषी जीव जिस पदार्थ को चाहता है, वह तीन लोक में कहीं भी हो तो भी उसे प्राप्त हो जाता है । जिस प्रकार माँगने वाले को कभी अधिक धन नहीं मिलता, भिखारी को तो क्या मिले ? उसी प्रकार लोभ से अधिक द्रव्य की इच्छा करने वाले लोभी को इसकी प्राप्ति नहीं होती। निस्पृह जीवों को तो बिना माँगे धन का ढेर मिल जाता है ।

सन्तोष धारण करने वाले को धन वगैरह पुण्य योग से स्वयमेव आ जाता है । पुण्य के उदय अनुसार लक्ष्मी आती-जाती है, इसलिए हे जीव ! तू लोभ/तृष्णा छोड़ कर सन्तोष रूप अमृत का पान कर तथा शक्ति अनुसार दान आदि शुभ कार्य कर । लक्ष्मी पुण्य से आती है, बिना पुण्य के मात्र इच्छा करने से वह आती नहीं ।

जिसने चैतन्य की निज सम्पदा को जान कर बाहर की सम्पदा का मोह छोड़ा है— ऐसे धर्मात्मा को ही लोक में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, इन्द्र आदि पदों की विभूति मिलती है ।

जो बुद्धिमान श्रावक परिग्रह को एकदेश छोड़ कर परिमाण करता है, उसकी परीक्षा करने के लिए बहुत लक्ष्मी स्वयं उसके घर आती है।

कदाचित् सूर्य से शीतलता मिल जाय, लेकिन ममता रूप परिग्रह भाव से जीव को कभी शान्ति नहीं मिलती ।

जिस प्रकार पशु को नग्न रहने पर भी ममत्व रूप परिग्रह के त्याग बिना शान्ति या पुण्य नहीं मिलता, उसी प्रकार जिसे परिग्रह की मर्यादा का कोई नियम नहीं– ऐसा धर्म रहित जीव शान्ति या पुण्य नहीं पाता । परिग्रह की तीव्र मूर्च्छा से वह पाप बाँध कर दुर्गति में रखड़ता है । धर्म के बगीचे को खा जाने वाला विषयासक्त मन रूपी हाथी नियम रूप अंकुश से वश में रहता है । इसलिए हे जीव ! तम सन्तोष पाने के लिए परिग्रह-परिमाण का नियम करो ।

परिग्रह के लोभ वश जीव न्याय-मार्ग छोड़कर अनेक पाप करता है, दया रहित होकर झूठ बोलता है, चोरी करता है, आर्तध्यान करता है । तीव्र लोभी मनुष्य को देव-गुरु-धर्म का और पुण्य-पाप का विवेक नहीं रहता, गुण-अवगुण को वह जानता नहीं, लोभ वश वह गुणी जनों का अनादर और दुर्गुणी जनों का आदर करता है, देश-परदेश घूमता है, माया-कपट करता है ।

लोभी पुरुष की आशा सम्पूर्ण संसार में ऐसी फैल जाती है कि यदि जगत का सम्पूर्ण धन उसे मिल जाय, फिर भी उसका लोभ शान्त नहीं होता । जिस जीव के विषयों में सुख बुद्धि छूटकर चैतन्य सुख का स्वाद आया हो, उस जीव के परिग्रह का लोभ सच में छूटता है।

अरे, धन की प्राप्ति अनेक दुःखों को देती है, प्राप्त धन की रक्षा भी दुःख से होती है और वह धन चला जाता है, तब भी दुःख ही देता है । इस प्रकार सर्वथा दुःख की कारणभूत धन की ममता को धिक्कार है ।

हे जीव ! तू धन का लोभ घटाने के लिए धर्म-प्रभावनार्थ उसका दान कर.......यही उत्तम मार्ग है । दान बिना गृहस्थपना तो परिग्रह के

भार से दुःख ही देने वाला है । लोभ तो पाप को बढ़ाने वाला होने से निंद्य है और दानादि शुभ कार्य श्रावक के लिए प्रशंसनीय हैं ।

हे भव्य ! तू सम्यक्त्व के पश्चात् व्रतों को भी धारण कर । सर्व संग त्यागी मुनिपना न हो सके, तब तक देश-त्याग रूप व्रत तो अवश्य धारण कर ।

## राजा जयकुमार की कहानी :-

राजा श्रेयांस के भाई राजा सोम के पुत्र राजा जयकुमार इस परिग्रह-परिमाण व्रत का पालन करने में प्रसिद्ध हैं ।

राजा जयकुमार की सुलोचना नाम की सद्गुणी पत्नि थी । स्त्री सम्बन्धी परिग्रह परिमाण में उसे एक मात्र रानी सुलोचना के अलावा अन्य सभी स्त्रियों का त्याग था ।

एक बार इन्द्र सभा में सौधर्म इन्द्र ने उनके सन्तोष व्रत की प्रशंसा की, वह सुन कर एक देव उनकी परीक्षा करने आया । जिससमय वे कैलास पर्वत की यात्रा के लिए गये, उससमय उसने विद्याधरी का उत्तम रूप धारण करके जयकुमार को बहुत ललचाया और हाव-भाव प्रदर्शित करके अपने साथ क्रीड़ा करने के लिए जयकुमार को कहा ।

परन्तु जयकुमार जिसका नाम ! वह विषयों से पराजित कैसे हो? वे थोड़े भी नहीं ललचाये, परन्तु विरक्त भाव से उलटे उन्होंने उस विद्याधरी को उपदेश किया— "हे माता ! यह तुम्हें शोभा नहीं देता। मेरा एक-पत्निव्रत है, इसलिए सुलोचना के सिवा अन्य स्त्रियों का मुझे त्याग है । हे देवी ! तू भी विषय-वासना के इस दुष्ट परिणाम को छोड़ और शीलवती होकर पर-पुरुष के साथ रमण करने की अभिलाषा छोड़।"

ऐसा कह कर जयकुमार तो हृदय में तीर्थंकर भगवन्तों का स्मरण करके ध्यान में खड़े रहे । देवी ने नाना प्रकार के अनेक उपाय किये, फिर भी जयकुमार डिगे नहीं ।

व्रत में उनकी दृढ़ता देख कर अन्त में देव प्रसन्न हुआ और प्रगट होकर उनकी स्तुति करने लगा तथा उनका सम्मान किया । कुछ समय बाद जयकुमार संसार से विरक्त हुए और राजपाट छोड़ कर मुनि दीक्षा अंगीकार की, आत्मध्यान से केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष गये ।

इस प्रकार परिग्रह-परिमाण व्रत में प्रसिद्ध जयकुमार की कहानी बताई । अब व्रत रहित और तीव्र लोभ में लीन जीव कैसा दु:ख पाता है ? यह बताने के लिए लुब्धदत्त सेठ का उदाहरण कहता हूँ ।

## लोभी लुब्धदत्त की कहानी :-

लघुदत्त अथवा लुब्धदत्त नाम का एक अति लोभी मनुष्य धन कमाने के लिए परदेश में गया, वहाँ चोरों ने उसे लूट लिया । रास्ते में उसने एक ग्वाले के घर से छाछ माँग कर पी ली, उस छाछ में थोड़ा मक्खन देख कर उसने लोभवश विचार किया— हर रोज इस प्रकार छाछ माँग कर पिऊँगा और उसमें से जो मक्खन निकलेगा, उसे इकट्ठा करूँगा, बाद में उसका घी बनाकर उसका व्यापार करूँगा ।

ऐसा विचार करके छाछ माँग कर मक्खन इकट्ठा करने लगा। अब थोड़े दिन में उस लोभी के पास एक सेर घी इकट्ठा हो गया और वह इस विचार में चढ़ गया— "यह घी बेचकर अब मैं चीजें लेने-बेचने का धन्धा करूँगा, उससे लाखों रुपया कमाऊँगा, फिर राजा बनूँगा, फिर चक्रवर्ती होऊंगा, मेरी पटरानी प्रेम से मेरे पैर दबाने आयेगी, उस समय प्रेम से मैं उसे लात मारूँगा..."

ऐसी धुन में उसने लात मारने की चेष्टा की । वह घी के मटके को लग गयी, मटके से घी अग्नि में गिरते ही बहुत जोर की ज्वाला उठी और झोपड़ी में आग लग गई । उस तीव्र आग में तीव्र लोभ के आर्तध्यान सहित वह मर गया और दुर्गति में गया । रावण आदि भी परिग्रह की तीव्र लालसा लेकर नरक में गये ।

परिग्रह की तीव्र लालसा का ऐसा फल जान कर हे मित्र ! तू आरम्भ-परिग्रह की मर्यादा रखना । सम्यक्त्व के सर्व अंगों का तथा पाँच व्रतों का उत्साह पूर्वक पालन करना।

# हमारे प्रकाशन

| | | |
|---|---|---|
| १. | चौबीस तीर्थंकर महापुराण<br>(हिन्दी व गुजराती)<br>[ ४८३ पृष्ठीय प्रथमानुयोग का अद्वितीय सचित्र ग्रंथ ] | ४०/- |
| २. | जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १) | ६/- |
| ३. | जैनधर्म की कहानियाँ (भाग २) | ६/- |
| ४. | जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ३)<br>उक्त चारों भाग छोटी-छोटी कहानियों<br>के अनुपम संग्रह | ६/- |
| ५. | जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ४)<br>दर्शन कथा | ७/- |
| ६. | जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ५)<br>भगवान श्री हनुमान चरित्र | ६/- |
| ७. | जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ६)<br>अकलंक-निकलंक चरित्र | ६/- |
| ८. | जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ७)<br>श्री जम्बूस्वामी चरित्र | १०/- |
| ६. | जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ८)<br>श्रावक की धर्म साधना | ६/- |
| १०. | जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ६)<br>तीर्थंकर भगवान महावीर | ८/- |
| ११. | जैनधर्म की कहानियाँ (भाग १०) | ६/- |
| १२. | जैनधर्म की कहानियाँ (भाग ११) | ६/- |
| १३. | अनुपम संकलन<br>(लघु जिनवाणी संग्रह) | अप्राप्त |
| १४. | पाहुड़ दोहा भव्यामृत शतक व<br>आत्मसाधना सूत्र | ५/- |
| १५. | विराग सरिता<br>(श्रीमद् राजचंद्रजी की सूक्तियों का संकलन) | ५/- |
| १६. | लघुतत्त्व स्फोट (गुजराती) | |

**जन्म**
वीर संवत् २४५१
पौष सुदी पूनम
जैतपुर (मोरबी)

**देहविलय**
८ दिसम्बर १९८७
पौष वदी ३, सोनगढ़

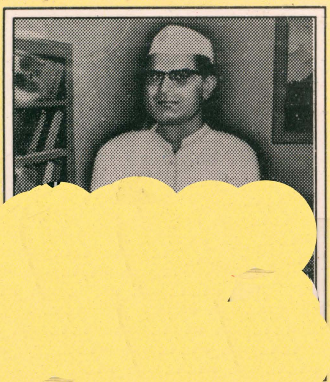

**सत्समागम**
वीर संवत् २४७१
(पुज्य गुरुदेव श्री से)
राजकोट

**ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा**
वीर संवत् २४७३
फागण सुदी १ (उम्र २३ वर्ष)

# ब्र . हारेलाल अमृतलाल मेहता

पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के अंतेवासी शिष्य, शूरवीर साधक, सिद्धहस्त, आध्यात्मिक, साहित्यकार **ब्रह्मचारी हरिलाल जैन** की १९ वर्ष में ही उत्कृष्ट लेखन प्रतिभा को देखकर वे सोनगढ़ से निकलने वाले आध्यात्मिक मासिक **आत्मधर्म** (गुजराती व हिन्दी) के सम्पादक बना दिये गये, जिसे उन्होंने ३२ वर्ष तक अविरत संभाला। पूज्य स्वामीजी स्वयं अनेक बार उनकी प्रंशसा मुक्त कण्ठ से इसप्रकार करते थे –

***''मैं जो भाव कहता हूँ, उसे बराबर ग्रहण करके लिखते हैं, हिन्दुस्तान में दीपक लेकर ढूँढने जावें तो भी ऐसा लिखने वाला नहीं मिलेगा....।''***

आपने अपने जीवन में करीब १५० पुस्तकों का लेखन/सम्पादन किया है। आपने बच्चों के लिए **जैन बालपोथी** के जो दो भाग लिखे हैं, वे लाखों की संख्या में प्रकाशित हो चुके हैं। अपने समग्र जीवन की अनुपम कृति **चौबीस तीर्थंकर भगवन्तों का महापुराण** - इसे आपने ८० पुराणों एवं ६० ग्रन्थों का आधार लेकर बनाया है। आपकी रचनाओं में प्रमुखतः आत्म-प्रसिद्धि, भगवती आराधना, आत्म वैभव, नय प्रज्ञापन, वीतराग-विज्ञान (छहढ़ाला प्रवचन, भाग १ से ६), सम्यगदर्शन (भाग १ से ८), जैनधर्म की कहानीयाँ (भाग १ से ६), अध्यात्म-संदेश, भक्तामर स्तोत्र प्रवचन, अनुभव-प्रकाश प्रवचन, ज्ञानस्वभाव, ज्ञेयस्वभाव, श्रावकधर्मप्रकाश, मुक्ति का मार्ग, अकलंक-निकलंक (नाटक), मंगल तीर्थयात्रा, भगवान ऋषभदेव, भगवान पार्श्वनाथ, भगवान हनुमान, दर्शनकथा, महासती अंजना आदि हैं।

२५०० वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर किये कार्यों के उपलक्ष्य में, जैन बालपोथी एवं आत्मधर्म सम्पादन इत्यादि कार्यों पर अनेक बार आपको स्वर्ण-चन्द्रिकाओं द्वारा सम्मानित किया गया है।

जीवन के अन्तिम समय में आत्म-स्वरूप का घोलन करते हुए समाधि पूर्वक **''मैं ज्ञायक हूँ....मैं ज्ञायक हूँ''** की धुन बोलते हुए इस भव्यात्मा का देह विलय हुआ – यह उनकी अन्तिम और सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता थी।

**मुद्रण व्यवस्था : जैन कम्प्यूटर्स, जयपुर फोन : 0141-700751 फैक्स : 0141-519265**